# शैक्षिक मंथन

(द्विभाषी मासिक)

*शैक्षिक क्षेत्र की प्रतिनिधि पत्रिका*

वर्ष : 15 अंक : 10 1 मई 2023

वैशाख-ज्येष्ठ मास, विक्रम संवत् 2080



परामर्श

**के.नरहरि**

**डॉ. विमल प्रसाद अग्रवाल**

**जगदीश प्रसाद सिंघल**

**शिवानन्द सिन्दनकेरा**

**जी. लक्ष्मण**

**महेन्द्र कुमार**

❖

सम्पादक

**डॉ. शिवशरण कौशिक**

❖

संपादक मंडल

**प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय**

**डॉ. ओमप्रकाश पारीक**

**डॉ. एस.पी. सिंह**

**डॉ. दीनदयाल गुप्ता**

**भरत शर्मा**

❖

प्रबन्ध सम्पादक

**महेन्द्र कपूर**

❖

व्यवस्थापक

**बसंत जिंदल**

❖

प्रेषण प्रभारी : **नौरंग सहाय 'भारतीय'**



प्रकाशकीय कार्यालय
82, पटेल कॉलोनी, सरदार पटेल मार्ग,
जयपुर (राजस्थान) 302001
दूरभाष : 9414040403

दिल्ली ब्यूरो :
शैक्षिक महासंघ सदन, 606/13,
कृष्णा गली नं.9, मौजपुर, दिल्ली - 110053
दूरभाष : 9868711893

E-mail :
shaikshikmanthan@gmail.com
Visit us at :
www.shaikshikmanthan.com

**वार्षिक शुल्क ₹ 250/-**
**दस वर्षीय शुल्क ₹ 2000/-**

पृष्ठ संयोजन : सागर कम्प्यूटर, जयपुर



*शैक्षिक मंथन मासिक में प्रकाशित सामग्री से संपादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है तथा चित्रों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है।*


## लोक कलाओं का उद्भव और विकास ❑ प्रो. प्रवीन कुमार मिश्र

**लोक कलाएँ इस दौर में भी सतत जीवन्त रहीं, इसका प्रमुख कारण था भारतीय समाज में उसकी गहरी जड़ें विद्यमान थीं। भारतीय ग्रामीण समाज जिस तरह अपने संस्कारों से गहराई से जुड़ा हुआ है, उसी तरह हमारी लोककलाएँ भी हमारे ग्रामीण समाज से गहराई से जुड़ी हुई हैं। भारतीय समाज के सुख-दुख, रीति रिवाज, धार्मिक विश्वास, तीज त्यौहार अर्थात् जीवन के प्रत्येक पक्ष की अभिव्यक्ति लोक कलाओं के माध्यम से होती है।**

4

## अनुक्रम


| | | |
|---|---|---|
| 3. | सम्पादकीय | – डॉ. शिवशरण कौशिक |
| 9. | भारत का ज्ञान-लोक और गुरुकुल शिक्षा | – प्रो. प्रकाश चंद्र अग्रवाल |
| 13. | बेणेश्वर की लोक संस्कृति में भक्ति-ज्ञान की... | – डॉ. राजेश कुमार जोशी |
| 16. | भारतीय लोककलाओं का इतिहास | – डॉ. उषा शर्मा |
| 18. | लोकनाट्यों के सामाजिक सरोकार | – डॉ. आदित्य कुमार गुप्त |
| 21. | जीवन मूल्य की हेतु - लोक कलाएँ | – डॉ. नीहारिका राठौड़ |
| 23. | लोक संस्कृति और उसका वर्गीकरण | – डॉ. अंजनी शर्मा |
| 25. | राष्ट्रीय शिक्षा नीति और कला शिक्षा | – डॉ. प्रतिमा मोहन कौशिक |
| 27. | गोमय कला और लोक मान्यताएँ | – डॉ. प्रेषिका द्विवेदी |
| 30. | लोक संस्कृति और शिक्षा | – प्रो. आलोक कु. चक्रवाल |
| 32. | शिक्षा चारदीवारी से मुक्त हो | – डॉ. शंभु दयाल अग्रवाल |
| 38. | Folklore, Oral History, Sampradayas... | – Dr. T.S. Girishkumar |
| 41. | मूल्य शिक्षा का आधार प्रभावी प्रार्थना सभा... | – संदीप जोशी |


## 'Harijatra' of the Matua Sect in Bengal : At the Crossroads of Tradition and Transformation

❑ **Mainak Putatunda**

**Harijatra is a relatively recent development, the first such Jatra being written by RamjibanBala in 1920. Eminent Matua researcher Dr.BiratBairagya has identified three historical stages of Harijatra. The earliest stage, which was quite similar in style to the traditional Puranic Jatra (with the exception that Harichand Thakur and his principal follower's lives were the basis of these Jatras and not Puranic stories) lasted from 1920 to the Indian independence. The second stage of Harijatra is an interesting one since at this stage, many writers who were refugees from East Pakistan, began to contribute to the art.**

35

# संपादकीय

**डॉ. शिवशरण कौशिक**
*सम्पादक*

लोक संस्कृति और लोक कलाओं का गहरा अंतर्संबंध होता है। लोक संस्कृति सामान्य जीवन जीने वाले लोगों की वह कला है जिसमें उनके छोटे बड़े सुख-दुख, दैनिक गतिविधियाँ, रीति रिवाज और भविष्य की आशा-आकांक्षाएँ परिलक्षित होते हैं। यह एक सतत प्रक्रिया है जो अनादि काल से चली आ रही है। इसे कोई बनाता नहीं, यह स्वयं बनती है। आम जन जीवन में विविधता के साथ सामूहिकता भी होती है, साथ ही वे अपनी पहचान बनाए रखते हुए भी समष्टि में स्वयं को समाहित रखते हैं। इसीलिए उनकी विशाल सांस्कृतिक परिधि में छोटी-मोटी अनेक संस्कृतियाँ बढ़ती हैं। लोक संस्कृति का यह विस्तृत वितान जब आत्म-प्रदर्शन करता है तो लोक कलाओं के रूप में प्रकट होता है।

आदिकाल से ही मनुष्य का जीवन प्रकृति के सान्निध्य में फलता-फूलता रहा है। उसके बहुरंगी जीवन के बहुआयामी अभिव्यक्ति पक्ष भी बनते चले गए हैं। यह विविधता विभिन्न लोक कलाओं की अभिव्यंजनाओं में देखी जा सकती है। कला वास्तविकता में साधनाभाव और न्यूनतम सुविधाओं में रहने वाले समूहों की अभिरुचियों और उनकी चुनौतियों की सच्ची सर्वव्यापकता के दावों का पोषण करती है। लोक संस्कृति और लोक कलाओं का विकास ग्रामोन्मुख कृषि-जीवी समाज व्यवस्था पर आधारित रहा है। लेकिन आधुनिक विकास की प्रक्रिया में ग्रामीण बस्तियाँ जिस प्रकार से जनसघन होती जा रही हैं, उसी के साथ ही उनमें नगरीकरण के तत्त्व भी समाविष्ट होते जा रहे हैं। आज मांगणियार बंधुओं की कला, मांड गायिकाओं के दलों की प्रस्तुतियाँ, पंडवानी या रसिया मंडली का विभिन्न देशों का दौरा, भंगड़ा, मयूर, भवई और राजस्थानी नृत्य के साथ हमारी स्थापत्य कला, काष्ठ कला, चित्र कला, प्रस्तर कला, धातु कला आदि क्षेत्रों की रचनात्मक पारंपरिक लोक-कलाएँ देश-विदेश में धूम मचा रही हैं। साथ ही सरकारी प्रायोजकता और आर्थिक संसाधनों की उपलब्धता के कारण लोक कलाओं को संरक्षण भी दिया जा रहा है जिससे लोक कलाकारों की आर्थिक स्थिति और सामाजिक पहचान में भी आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। यह आवश्यक भी है और महत्त्वपूर्ण भी है।

उल्लेखनीय है कि इन दिनों ग्रामीण कृषि व्यवस्था पर मानसून के विपरीत प्रभाव और परिश्रम के अनुपात में लाभ नहीं होने के कारण लोक कलाओं से संबद्ध लोगों को काम की तलाश में शहरों की ओर पलायन करना पड़ रहा है क्योंकि तकनीक के विकास के साथ शहरी वातावरण में लोक कलाओं का प्रचार प्रसार बढ़ा है।

स्वामी विवेकानंद ने एक बार अपने भाषण में उद्घोष किया था कि ''उठो, जागो! यदि तुम्हारा यह क्षुद्र जीवन चला भी जाए तो क्या हानि है ? सभी मरेंगे-साधु या असाधु, धनी या दरिद्र सभी मरेंगे! चिरकाल तक किसी का शरीर नहीं रहेगा। अतएव उठो, जागो और संपूर्ण रूप से निष्कपट हो जाओ! भारत में घोर कपट समा गया है। चाहिए चरित्र, चाहिए इस तरह की दृढ़ता और चरित्र का बल जिससे मनुष्य आजीवन दृढ़व्रत बन सके, क्योंकि दृढ़ धारणाएँ ही महत् कार्यों की जननी हैं।'' स्वामी जी के इस उद्धरण में से केवल दो शब्दभर निकाल लिए जाएँ - 'कपट' और 'चरित्र'; तो इनमें वर्तमान भारतीय समाज की मूल समस्या और उसका सटीक समाधान दिखाई देगा। कपट से यहाँ स्वामी जी का अर्थ छल, छद्म, चोरी, भ्रष्टाचार अराजकता आदि से है; और चरित्र से उनका भाव सभी प्रकार की निष्कपटताओं से संपन्न नैतिक पुरुषार्थ से है। इसी से व्यक्ति-निर्माण समाज-निर्माण और राष्ट्र-निर्माण की परियोजना निर्बाध चल सकती है। शिक्षा-जगत में काम करने वाले शिक्षार्थियों, शिक्षकों तथा शिक्षा नियंताओं से समाज की अपेक्षाएँ और अधिक बढ़ जाती हैं।

पिछले कुछ वर्षों से देश के विभिन्न प्रांतों में, विशेष रूप से राजस्थान में होने वाली कमोबेश सभी प्रकार की परीक्षाओं के प्रश्न पत्रों को परीक्षा व्यवस्था से जुड़े लोगों द्वारा लाखों-करोड़ों रुपयों में परीक्षा आयोजन से पूर्व परीक्षार्थियों को बेचने, उपलब्ध करवाने की घटनाओं में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। यह इस बात का प्रतीक है कि सरकारी नौकरियों के लिए परीक्षार्थी-अभिभावक भी हर तरह के हथकंडे अपनाने पर आमादा हैं। साथ ही परीक्षा आयोगों में काम करने वाले अधिकारी, कर्मचारी तथा सदस्य भी अपने मान अपमान की परवाह किए बिना बेखौफ नकल कराने, पेपर बेचने या फिर अपने प्रभाव का इस्तेमाल करते हुए येन केन प्रकारेण अपने चहेतों या बड़ी रकम देने वालों को सारी सीमाएँ लांघकर सहयोग करने लगे हैं। इन सब घटनाओं के कारण एक तो परिश्रमी एवं कर्मठ विद्यार्थियों का भविष्य अधर झूल में लटक जाता है तथा दूसरा इसकी हताशा में युवा विद्यार्थियों के हृदय पर, चरित्र पर जो नकारात्मक प्रभाव पड़ता है वह समूचे राष्ट्र के लिए घातक है। हम इन परिस्थितियों में कैसी भावी पीढ़ी का निर्माण कर रहे हैं ? किस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था का वातावरण बन रहा है? सरकारों के लिए भी इन घटनाओं में लिप्त लोग चुनौती बने हुए हैं। ❑

# लोक कलाओं का उद्‌भव और विकास

**प्रो. प्रवीन कुमार मिश्र**
संकायाध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, (छ.ग)

कलाओं का विकास शास्त्रबद्ध नियमों के अनुरूप अपने-अपने काल विशेष में चरमोत्कर्ष पर पहुँचने में समर्थ हुआ वहीं दूसरी ओर लोक कलाओं का संसार अपने अनगढ़ एवं ग्रामीण संस्कारों से जुड़ा रहा। भारत में लोक कलाओं का अध्ययन अपेक्षाकृत उपेक्षित रहा है। हिन्दू स्थापत्य, शिल्पकला, शास्त्रीय संगीत आदि पर समुचित काम हुआ है। भारतीय विद्वानों एवं युरप व अमेरीका आदि के भी अनेक विद्वानों ने हिन्दुकला पर विस्तारपूर्वक अध्ययन किया है। बौद्ध कला व जैन कला का अध्ययन भी गहराई से किया गया है। यहाँ तक कि मुस्लिमों के आगमन के पश्चात् उनके शासन काल में विकसित स्थापत्य एवं चित्रकला पर भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। लोक कलाओं का अध्ययन इनकी तुलना में नगण्य ही कहा जावेगा। लोक कलाओं के अध्ययन की इतनी अधिक उपेक्षा का कारण उपर्युक्त वर्णित अन्य कलाओं की तुलना शायद बुद्धिजीवियों को अनगढ़ एवं अनाकर्षक प्रतीत होता होगा। जहाँ एक ओर हिन्दू, बौद्ध, जैन व मुस्लिम कलाओं का विकास शास्त्रबद्ध नियमों के अनुरूप अपने-अपने काल विशेष में चरमोत्कर्ष पर पहुँचने में समर्थ हुआ वहीं दूसरी ओर लोक कलाओं का संसार अपने अनगढ़ एवं ग्रामीण संस्कारों से जुड़ा रहा। उसमें इन शास्त्रीय कलाओं की तरह सूक्ष्मता एवं पूर्णता तो नहीं आ पाई, किन्तु वह ग्रामीण संस्कारों से प्रतिबद्ध रहते हुए जीवन्त बना रहा जबकि अन्य भारतीय कलाएँ शास्त्रबद्ध होकर पूर्णता की ऊंचाइयों को स्पर्श करने लगीं किन्तु वे रूढ़िग्रस्त होकर कुंठित भी होने लगी। मध्य युग में हिन्दू जैन मंदिरों पर निर्मित मूर्तियों में होने वाली पुनरावृत्ति एवं शास्त्रीय एकरूपता भारतीय कलाओं के आए हुए ठहराव के स्पष्ट उदाहरण हैं।

अब हम लोककलाओं के केन्द्र में स्थित उन मूल तत्त्वों का आकलन करेंगे, जिनके कारण लोककलाएँ अपने सीमित साधनों अभावों व उपेक्षा के बावजूद भी सतत गतिशील व जीवन्त बनी रही हैं। ये मूल तत्व हैं लोक जीवन के धार्मिक विश्वास, जादू एवं सामाजिक व्यवहार व आर्थिक आधार। आज लोककलाओं में प्रयुक्त प्रतीक एक लम्बी सांस्कृतिक प्रक्रिया द्वारा प्रदत्त हैं।

लोक कलाएँ इस दौर में भी सतत जीवन्त रहीं, इसका प्रमुख कारण था

भारतीय समाज में उसकी गहरी जड़ें विद्यमान थीं। भारतीय ग्रामीण समाज जिस तरह अपने संस्कारों से गहराई से जुड़ा हुआ है, उसी तरह हमारी लोककलाएँ भी हमारे ग्रामीण समाज से गहराई से जुड़ी हुई हैं। भारतीय समाज के सुख-दुख, रीति रिवाज, धार्मिक विश्वास, तीज त्यौहार अर्थात् जीवन के प्रत्येक पक्ष की अभिव्यक्ति लोक कलाओं के माध्यम से होती है। अपनी सहज अनुभूतियों से लेकर जटिलतम स्थितियों को, आवेग एवं संवेगों की अनुभूतियों को कलात्मक सौंदर्य के साथ अत्यन्त सहज प्रतीकों एवं बिम्बों के माध्यम से भारतीय ग्रामीणजन, परंपरागत लोक कलाओं में अभिव्यक्त करते आए हैं। हजारों वर्षों में समाज विकास की धारा के साथ ये लोक कलाएँ विकसित हुई हैं। इसमें संपूर्ण समाज का अनुभूत सौंदर्य बोध एवं सामाजिक यथार्थ कलात्मक स्तर पर अभिव्यक्ति पा सका है। लोक कलाओं में अभिव्यक्ति के लिए उपयेाग में लाए जाने वाले उपकरण भी अपने आस-पास के परिवेश से जुटाए गए हैं। चित्रकारी हेतु रंगों के लिए प्रकृति द्वारा प्रदत्त हिरमिचि, पीली मिट्टी, गेरु, खड़िया, वृक्षों की छाल तथा फूल-पत्तियों से रंग निकाले जाते रहे हैं। देवी-देवताओं की मूर्तियों के निर्माण में काष्ठ का तथा विभिन्न किस्म के पत्थरों का प्रयोग हेाता रहा है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने कुम्हार के चाक का विकास किया और मिट्टी के बर्तन तथा मिट्टी की मूर्तियाँ बनाना आरंभ किया। सभ्यता के विकास में यह एक महत्त्वपूर्ण स्थिति थी। मिट्टी के पके हुए बर्तन व मूर्तियों का न सिर्फ समाज की विकासधारा में ऐतिहासिक महत्त्व है, वरन आज भी लोक जीवन का वह एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

वस्त्रों की बुनाई के लिए अपने इर्द गिर्द अनेक तरह के मजबूत तन्तुओं, छालों व रेशों का उपयोग तथा उनको रंगने के लिए प्रकृति प्रदत्त रंगों का उपयेाग परम्परागत वस्त्रों के निर्माण में तथा परिधानों में आज भी प्रचलित है। रासायनिक पद्धति से निर्मित रंग विज्ञान के इतने अधिक विकास के बावजूद भी प्राकृतिक रंगों का मुकाबला नहीं कर पाते। भारत के पूर्वोत्तर में नागा तथा अन्य जनजातियों द्वारा निर्मित शालों या कश्मीरियों द्वारा निर्मित गलीचों व पश्मिनों की रंगाई तो आज भी अद्वितीय है। उड़ीसा के बोडो आदिवासियों द्वारा निर्मित स्वयं के उपयोग हेतु परिधान हों अथवा कच्छ के मरुस्थल में विचरण करने वाले रैबारी व मालधारी हों, या भूटान की जनजातियाँ हों अथवा राजस्थान के बनजारा हों, सभी ने अपने परिवेश से वस्तु सामग्री चुनकर परिधान, रंग तथा अलंकरण का विकास किया है।

कांस्ययुग में ताम्र धातु व जस्ता तथा टिन के सम्मिश्रण से एक नई मिश्र धातु का प्रादुर्भाव हुआ जिसे कांस्य के रूप में जाना जाता है। कांस्य के विकास के साथ ही धातु की ढली हुई मूर्तियों तथा आभूषणों का निर्माण होने लगा इसके पूर्व काष्ठ, पत्थर तथा हड्डियों व हाथी दांतों का प्रयोग मूर्ति तथा कुछ कलात्मक उपकरणों हेतु किया जाता था। कांस्य के विकास ने इतना महत्त्वपूर्ण योगदान किया कि समाज की इस विकास अवस्था को कांस्य युग की संज्ञा प्रदान की गई। मोहन जोदाड़ों तथा हड़प्पा जो कि सिन्धुघाटी सभ्यता के केन्द्र रहे हैं, खुदाई में वहाँ से अनेक कलात्मक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। मृदु भांड, कांच के मणियों द्वारा निर्मित आभूषण, घीया पत्थर पर निर्मित मूर्तियाँ, पकाई हुई मिट्टी के खिलौने तथा कांस्य की नर्तकी की एक अति आकर्षक मूर्ति भी वहाँ की खुदाई से प्राप्त हुई है। कांस्य की इस मूर्ति का निर्माण मोमक्षय पद्धति कहलाता है। मिट्टी का आकार बनाकर फिर उस पर मोम के पतले पतले तार बनाकर उस पर चढ़ाए जाते हैं। इसके पश्चात् पुनः मिट्टी चढ़ाई जाती है तथा कांस्य को गर्म करके जब पिघल जाता है तो मोम के स्थान पर भर दिया जाता है। मोम धातु की गर्मी से जल जाता है। कांस्य मोम द्वारा छोड़े गये उस खाली स्थान में भर दिया जाता है। कांस्य की मूर्ति निर्माण की यह तकनीक बस्तर तथा उड़ीसा के आदिवासी क्षेत्रों के घसिया दस्तकार आज भी अपनाए हुए हैं। घसिया शब्द कांस्या का ही बिगड़ा हुआ

रूप है। इस जाति का घास काटने से अथवा घोड़ों की देखरेख से किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है जो कालान्तर में कुछ विद्वानों ने भ्रमवश, समझ लिया है।

मृदभांडों के सदृश्य ही बांस के बने उपकरणों का भी लोक जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। बांस को चीरकर पतली-पतली सींकों व खपच्चियों से अनेक आकार प्रकार की चटाइयाँ व टोकरियाँ आज भी बड़े पैमाने पर प्रचलन में हैं। धातु के अत्यधिक विकास के बावजूद सस्ता तथा सुलभ व वजन में हल्का होने के कारण उसका तादात्म्य भारतीय जनजीवन के साथ बेजोड़ है। बांस के कई हजार उपयोग गिनाए जा सकते हैं। यही कारण है कि नागा जनजाति के लोग बांस की पूजा करते हैं। बांस की बनी वस्तुओं का उपयोग न सिर्फ वस्तुओं के संग्रहण व एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने ले जाने के लिए किया जाता है वरन बर्तन, हथियार, औजार, भवन निर्माण तथा संगीत के उपकरणों तथा वाद्य यंत्रों में भी किया जाता है। नागा जनजाति के लोग बड़े मोटे आकार के बांस में पानी भरकर दूरस्थ स्थानों से पीठ पर लादकर अपने घरों को लाते हैं। बांस के बने मदिरा पान करने के पात्र अत्यन्त सुरुचि के साथ बनाए जाते हैं। धनुष, बाण, लाठी व अनेक औजारों के हत्थों के उपयोग में भी बांस लाया जाता है।

उपर्युक्त विस्तृत भूमिका का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि अपने परिवेश में सहज उपलब्ध सामग्री का उपयोग कर मनुष्य ने लोक जीवन व संस्कृति का अभिन्न एवं अक्षुण्ण अंग बना लिया है। समाज विकास की धारा में वस्तु, संस्कृति व परंपराओं को विकसित ही नहीं करती वरन उनको आकार व स्वरूप भी प्रदान करती है। वस्तु संस्कृति ने हमें उपकरण प्रदान किए जिससे लोककलाओं में उपयोग में लाए जाने वाले उपकरणों का प्रादुर्भाव हुआ। अब हम देखेंगे कि लोककलाओं की रचना प्रक्रिया और उसकी अभिव्यक्ति व प्रतिमानों को रचने, गढ़ने व निर्धारित करने में कौन सी सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक व रचनात्मक तथा कलात्मक परिस्थितियाँ व आकांक्षाएँ रही हैं जिनने लोककलाओं के संसार को समृद्ध किया है। हमें लोक कलाओं का अवलोकन व अध्ययन उसके परिवेश एवं संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में ही करना चाहिए न कि अन्य अतिविकसित सभ्यताओं की तुलना व संदर्भों में। इसके अलावा हमें हमारे लोक जीवन एवं संस्कृति को आधार बनाकर ही हमारी लोक कलाओं को देखना चाहिए न कि अन्य किसी देश या समाज की लोक कलाओं से तुलना करके लोककलाओं का अध्ययन हमारे देश में अत्यन्त उपेक्षित रहा है। विद्वानों को उसने अपनी ओर विशेष आकर्षित नहीं किया। विदेशी नेतृत्व शास्त्रियों व समाज शास्त्रियों ने ही कुछ छिटपुट प्रयास किए हैं। गत कुछ वर्षों से विद्वानों व कला समीक्षकों कलामर्मज्ञों की रुचि लोककलाओं की ओर बढ़ी है। उसके दो प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं। पहला कारण तो समृद्ध मानी जाने वाली भारतीय कला का रूढ़ी ग्रस्त होकर कुंठित हो जाना, तथा दूसरा कारण तथाकथित आधुनिक कला का अत्यधिक पाश्चात्य कला पर आश्रित होकर उनके संस्कारों से जुड़े बगैर ही अंधाधुन्ध अनुकरण करना, आयात करके अपनाई गई भारतीय आधुनिकता व कला की जड़ें हमारी संस्कृति में नहीं होने के कारण ही सर्व साधारण को वह अपरिचित लगती है। भारतीय मानस ने बौद्धिक स्तर पर भले ही आधुनिक कला को स्वीकार कर लिया हो, किन्तु वह हमारी सांस्कृतिक चेतना व अभिव्यक्ति का अंग व जरिया नहीं बन सकी है। शायद इसीलिए अपनी जमीन की तलाश या जड़ों से जुड़कर ऊर्जा प्राप्त करने की ललक में कला मर्मज्ञों का ध्यान लोक कला के अध्ययन की ओर गया है। लोक कलाओं के उपकरणों को अब भी वे पाश्चात्य विद्वानों के ज्ञान व अध्ययन की कसौटी पर कसकर पुनः भूल कर रहे हैं। अफ्रीका महाद्वीप की जनजातियों की कला, पैसिफिक के महाद्वीप व द्वीपों की जनजातियों की कला के अध्ययन से निर्मित प्रतिमान भारतीय लोककलाओं पर जस के तस लागू करना नासमझी

होगी। अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका या पैसिफिक के अन्य द्वीपों की जनजातियों का सम्बन्ध बाहरी दुनिया से बहुत बाद में हुआ है। वहाँ की सांस्कृतिक परंपरा महान तथा अक्षुण्ण रही है। बाह्य आक्रमणों का दबाव तथा प्रभाव उन पर अपेक्षाकृत नगण्य रहा है। भारतीय जनजातियों पर बाह्य दबाव के कारण वे निरीह, असहाय तथा पिछड़े हुए समझे जाने वाले लोगों की कला मानी गई है जो अपने सीमित साधनों व कला उपकरणों का उपयोग करके भी जीवित रह सकी है। भारतीय लोककला को वनांचल की वनस्पति या वहाँ पुष्पित फूलों की भीनी गंध के अनुरूप ही ग्रहण करना उचित होगा। भारतीय जनजातियाँ राजनैतिक रूप से दमित, शोषित व शासित रही हैं। भारतीय ग्रामीण संस्कृति लम्बे समय तक अंधकार में डूबी रही है। कला उपकरणों के अभाव में बहुत कुछ अभिव्यक्ति पाने से वंचित रह गया है। बहुत कुछ जो अभिव्यक्ति पाता रहा है वह हमारे प्रबुद्ध वर्ग के सांस्कृतिक अलगाव की प्रक्रिया में अनदेखा हो गया है। भारतीय वर्ण व्यवस्था के कारण ब्राह्मण संस्कृति में पैदा हुआ प्रबुद्ध वर्ग सभी दस्तकारों को क्षुद्र समझ कर उनकी दस्तकारियों व कलाओं को हेय व निकृष्ट समझता रहा है। यह द्विज दृष्टि जो हाथ से काम करने वाली जातियों को अछूत समझती हैं, उनके द्वारा निर्मित दस्तकारी व कला को भी तुच्छ समझती है। द्विज समाज का यह हिन्दू दृष्टिकोण वर्णव्यवस्था व जातिगत समाज से आदिवासी समाज में पहुँच गया है। आदिवासी भी हिन्दुओं की तरह ही घसिया, बढ़ई, बुनकर व लोहार आदि को अछूत समझता है। बस्तर के मुरिया व माड़िया गोंड न सिर्फ अत्यन्त सुन्दर कलाकृतियाँ व आभूषण बनाने वाली घसिया जाति को अछूत समझते हैं, वरन उन्हीं में से निकलकर लोहारी व बढ़ईगिरी करने वाले कारीगरों को भी

**लोक कलाएँ इस दौर में भी सतत जीवन्त रहीं, इसका प्रमुख कारण था भारतीय समाज में उसकी गहरी जड़ें विद्यमान थीं। भारतीय ग्रामीण समाज जिस तरह अपने संस्कारों से गहराई से जुड़ा हुआ है, उसी तरह हमारी लोककलाएँ भी हमारे ग्रामीण समाज से गहराई से जुड़ी हुई हैं। भारतीय समाज के सुख-दुख, रीति रिवाज, धार्मिक विश्वास, तीज त्यौहार अर्थात् जीवन के प्रत्येक पक्ष की अभिव्यक्ति लोक कलाओं के माध्यम से होती है।**

अपने से नीची जाति का समझते हैं। अत्यन्त सुन्दर कपड़ा बुनने वाले महरा, पनिका व मिरगान भी हिन्दुओं की तरह ही मुरिया, माड़िया अथवा भतरा आदिवासियों के लिए भी अछूत हैं। यह कितनी बड़ी विडंबना है कि उनके देवी-देवताओं की अत्यन्त कलात्मक मूर्तियाँ व आभूषण बनाने वाले घसिया /घडुवा/ भी जातीय धरातल पर नीचे स्तर पर अछूत माने जाते हैं। कलात्मक वस्तुएँ बनाने वाले कारीगर जाति के लोग न सिर्फ उन्हें छिपाते हैं, वरन समुचित प्रशंसा व सम्मान के अभाव में अपनी कलात्मक उपलब्धियों का स्वयं भी ठीक-ठीक महत्त्व नहीं समझते। अनेक जनजातियों में व्याप्त भयावह गरीबी, अज्ञानता तथा हिन्दुओं व ईसाई धर्म से शामिल हुए लोगों के संपर्क से उनमें जो हीनता का भाव जन्म लेता रहा है उसने भी दस्तकारियों व लोक कलाओं को क्षति पहुँचाई है।

अब हम लोककलाओं के केन्द्र में स्थित उन मूल तत्त्वों का आकलन करेंगे, जिनके कारण लोककलाएँ अपने सीमित साधनों अभावों व उपेक्षा के बावजूद भी सतत गतिशील व जीवन्त बनी रही हैं। ये मूल तत्त्व हैं लोक जीवन के धार्मिक विश्वास, जादू एवं सामाजिक व्यवहार व आर्थिक आधार। आज लोककलाओं में प्रयुक्त प्रतीक एक लम्बी सांस्कृतिक प्रक्रिया द्वारा प्रदत्त हैं। जनजातियों व ग्रामीण समाज के मिथक व धार्मिक रीति रिवाज मनुष्य व अदृश्य शक्तियों अथवा ईश्वर व मनुष्य के सम्बन्धों के प्रति गहन जिज्ञासा से उत्पन्न गूढ़ रहस्यों व जादू व धार्मिक विश्वास से पैदा हुए सामाजिक संगठन व सर्वमान्य प्रतिष्ठान हैं। इस मानसिकता व धार्मिक विश्वासों की पृष्ठभूमि में ही अनेक प्रतीक विकसित हुए हैं जिनकी लोक जीवन में गहरी जड़ें हैं। हमें इन प्रतीकों का अध्ययन उनके इन्हीं धार्मिक विश्वासों की पृष्ठभूमि में करना होगा। आज बहुत से ज्यामितीय अलंकरण जितने सरल व सहज लगते हैं वे दरअसल उतने सरल नहीं हैं। अनेक ज्यामितीय अलंकरण अत्यन्त परिष्कृत व सूक्ष्म आकारों का कलात्मक अमूर्तन हैं। इसी प्रकार अनेक पशु, पक्षी, वृक्ष तथा जीव जन्तुओं के प्रतीकों का प्रयोग भी अपने पीछे एक लम्बी सांस्कृतिक प्रक्रिया से जन्मा है। इन प्रतीकों में बहुत से प्रतीक अति प्राचीन जनजातियों के टोटेम प्रतीक हैं। ये टोटेम प्रतीक भी कलात्मक अमूर्तन की प्रक्रिया में ज्यामितीय आकारों में परिवर्तित हो गए हैं। हमारी लोक कलाओं के अनेक प्रतीक अति प्राचीन जन जातियों व कबीलों के मिथक हैं। वैदिक समाज के पूर्व में ही वे प्रतीक मिथक के रूप में स्थापित हो चुके थे। सर्प, बैल, चंद्रमा, सूर्य, वृक्ष, अग्नि, मछली, कछुवा आदि अनेक मिथक

भारतीय सभ्यता के पूर्व में ही अन्यत्र विकसित होकर स्थापित व स्वीकृत हो चुके थे। आर्यों के भारत में आगमन के साथ ये प्रतीक भी बाहर से उनके धार्मिक मिथकों के रूप में भारत आ गए। प्रजनन की जटिलता व महत्त्व ने मात्र देवियों के मिथक व प्रतीकों को जन्म दिया। सर्प युग्य भी प्रजनन का ही प्रतीक था। वृक्ष भी प्रजनन का ही प्रतीक था।

हमारी लोक कला के संस्कार हमारी अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के विकास की परम्परा में हैं। आज लोक कला में अभिव्यक्त प्रतीकों में से अनेक प्रतीकों का सभ्यता के आरंभिक काल में जब मानव शिकारी जीवन व्यतीत करता था तब ही विकसित होना आरंभ हो गया था। गुफा मानव की इस अवस्था में उसने अपनी गुफा कंदराओं में आवास करते हुए भित्ति चित्र बनाना आरंभ कर दिया था। उस युग में जीवन यापन अत्यन्त कठिन व संघर्ष पूर्ण था। प्राकृतिक विपत्तियाँ भी बहुत अधिक थी। ऐसे समय जादू के इर्द-गिर्द विश्वासों का निर्माण हुआ था। शैलाश्रयों की चट्टानों पर जो चित्र सभ्यता के आरंभिक काल में गुहा मानव द्वारा अंकित किए गए हैं वे इन्हीं विश्वासों के द्वारा प्रभावित हैं। शिकार में सफलता की कामना एवं सफलता के पश्चात होने वाले आल्हाद की अभिव्यक्ति को अभिव्यक्त करने वाले गुआ मानव द्वारा अंकित शैल चित्रों में वन्य पशुओं, आखेट करते आदिम मनुष्यों, उनके हथियारों आदि के ऐसे अनेकानेक चित्र कई देशों में पाए गए हैं। सर्व प्रथम स्पेन में इस प्रकार के प्राचीन शैलाश्रयों की खोज हुई। भारत में भी सिंझानपुर कबरा पहाड़, कोटा, सागर-पथरिया, भीमबेटका, पंचमढ़ी, एवं मिर्जापुर आदि अनेक क्षेत्रों में शैलाश्रयों का पता लगा। इन शैलाश्रयों में पच्चीस तीस हजार वर्षों से ईसा पूर्व पाँच हजार वर्षों तक गुहा मानव द्वारा अंकित अनेक चित्र उपलब्ध हुए हैं। इन चित्रों में आदि मानव के परिवेश तथा उसके रहन सहन के तरीके व उपकरणों के अलावा उसके विश्वासों का भी पता चलता है। इन्हीं धार्मिक या जादू पर आधारित विश्वासों का विकास कालान्तर में कांस्य युग में और भी दृढ़ हुआ व उसने अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों की रचना की। हमारी प्राचीन संस्कृति के अनेक प्रतीक कांस्य युग के धरोहर ही हैं। कालान्तर में पशुपालन अवस्था के साथ-साथ नए अनुभव के साथ विकास की महती संभावना के द्वार खुले। जमीन जोत कर कृषि करने के साथ-साथ गाँवों में बसना शुरु हुआ। गाँवों की संख्या में शनैः शनैः वृद्धि हुई। इसी काल में मेसोपोटामियाँ में नदियों के कछारी क्षेत्र में एक विकसित सभ्यता का उदय हुआ जिसमें मंदिरों में पूजा होने लगी। लिपि का विकास हुआ। गणित शास्त्र का विकास आरंभ हुआ। वास्तुकला का श्रीगणेश हुआ। तथा साथ ही राज्य की उत्पत्ति एवं उसके संचालन का विज्ञान भी आरंभ हुआ। कालान्तर में यही ज्ञान मिश्र, क्रेते, सिन्धुघाटी व चाइना, मेक्सिको व पेरू आदि सुदूर प्रदेशों तक फैल गया। आदिम युग के विकास तक आराध्य देवी मातृ देवी हुआ करती थी। जो धरती माता का प्रतीक थी व मृत्यूपरांत दाह संस्कार अथवा दफन के लिए मृत शरीर को समाहित कर पुनर्जन्म हेतु मार्ग प्रशस्त करती थी। इस काल की बनी हुई मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें मातृ देवियों के वक्ष बहुत भारी बनाए गए हैं। सिंधु सभ्यता की खुदाई में प्राप्त मृण्य मूर्तियों में भी मातृ देवियों के वक्षों का आकार विशाल रूप में अंकित किया गया है। मातृ देवी का यह स्वरूप आरंभ में ग्राम मातृका या देवी का था या क्षेत्रीय देवी का। सभ्यता के विकास के साथ यही मातृका रूप नये आयामों को समाहित कर एक शक्तिशाली रूप में परिणत हो गया। भारतवर्ष में आदि शक्ति या शक्ति की देवी के रूप में जन्मदात्री पालनकर्ती, दुष्टों का संहार करने वाली दयामयी, करुणामयी एवं ममतामयी स्थापित हुई। इसके अनेक रूप भारतीय संस्कृति एवं धर्म ग्रन्थों में वर्णित हैं। कांस्ययुग से लौह युग में सभ्यता के प्रवेश के साथ ही आक्रमणकारी योद्धाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इन योद्धाओं ने ग्रीस, सीमाइट तथा सीरिया से निकलकर जहाँ वे पशुपालन करते थे न सिर्फ ऊँट को पालतू बनाया वरन घोड़ों को पालतू बनाकर उनकी सवारी करना आरंभ किया। इन आक्रामक योद्धाओं के साथ-साथ सभ्यता के विकास में मातृका देवियों के बाद वीर योद्धाओं का समावेश भी धार्मिक व सांस्कृतिक प्रतीकों में होने लगा। ❑

# भारत का ज्ञान-लोक और गुरुकुल शिक्षा

**प्रो. प्रकाश चंद्र अग्रवाल**

प्राचार्य,
क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान,
भुवनेश्वर (ओड़िशा)

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में पारंपरिक ज्ञान-कौशल और शिक्षा के आधार पर भारत को पुन: विश्व के नेतृत्व के लिए समर्थ व सक्षम बनाने का सपना संजोया गया है। अंग्रेजों की शिक्षा-व्यवस्था का उद्देश्य था अंग्रेजी पढ़े-लिखे कुछ नौकरशाह तैयार करना, जो अपने सामाजिक मूल्यों को हीन, दक़ियानूसी और अंधविश्वास समझें और पाश्चात्य जगत के मूल्यों को सम्मान की दृष्टि से देखें; इस देश को गुलाम बनाकर राज करने में उनकी सहायता करें। यह कोई मनगढ़ंत आरोप नहीं, ब्रिटिश पार्लियामेंट के दस्तावेजों में लिपिबद्ध है। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रवर्त्तक थॉमस बैबिंगटन मैकाले द्वारा भारत की पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था पर प्रस्तुत प्रतिवेदन वहाँ 'मिनट्स ऑफ इंडियन एडुकेशन, 1835' के रूप में उपलब्ध है। 1947 में स्वाधीनता प्राप्ति के बाद स्वाभिमान, आत्मनिर्भरता तथा स्वदेशी ज्ञान-कौशल का पुनरुत्थान आदि स्वाधीन भारत की प्राथमिकताएँ होनी चाहिए थीं। ऐसा तो नहीं था कि स्वाधीन भारत की बागडोर संभालने वाले तत्कालीन जननायक मैकाले की मंशा से अनभिज्ञ थे, पर यह विडम्बना ही है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था में हमें अपेक्षित परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता, बल्कि पूर्ववर्ती शिक्षा व्यवस्था को ही विस्तार मिलता रहा।

कर्मानुसारं फलम्! शिक्षा का मौलिक उद्देश्य है रोजगार, चरित्र-निर्माण, ज्ञान-विज्ञान व आध्यात्मिक विकास के साथ साथ देश और जाति विशेष की अपनी संस्कृति की सुरक्षा। आज़ादी के बाद की दीर्घावधि में इस शिक्षा-पद्धति को अपनाते हुए शिक्षा के इन मौलिक उद्देश्यों से हम दूर होते गए। कौशल-विकास के अभ्यास के बिना सिर्फ किताबी पढ़ाई के सहारे दसवीं तक पढ़ने वाला किशोर भी खेतों में जाना, अपने अभिभावकों के साथ उनकी कारीगरी अथवा अन्य धंधे में हाथ बँटाना नहीं चाहता। बेरोजगारी बढ़ती गई, कृषिक्षेत्र वीरान होते गए, कुटीर उद्योग व कारीगरी विद्याएँ विलुप्ति के कगार पर पहुँच गईं। तथाकथित शिक्षित युवा काष्ठ-शिल्प, स्थापत्य, कुम्हार, लोहार, स्वर्णकार, कृषि और गोपालन आदि जैसे आजीविका के साधनों को अपनाने में अपना अपमान समझने लगा। भारतीय शिक्षा-व्यवस्था के साथ-साथ हमारे जीवन मूल्य तिरोहित होते गए। परिवार विघटित हुए। कौमी एकता की तो क्या कहें, सांप्रदायिक असहिष्णुता बढ़ती गई और उससे पनपे कठमुल्लावाद ने तो देश में हिंसा और आतंकवाद का जाल भी बिछा दिया। किसान-कारीगर पूँजीपतियों

के कारखानों में मजदूरी करने को विवश हो गए। त्राहि-त्राहि करती जनता यह नहीं समझ पा रही कि आखिर इसका अंत कहाँ और समस्या का हल क्या है!

किसी समस्या का कारगर हल निकालने के लिए उसकी जड़ तक पहुँचना जरूरी है। हमारी सामाजिक-आर्थिक-आध्यात्मिक समस्याओं की जड़ और समाधान भी मैकाले के 1835 वाले दस्तावेज़ में ही छिपा है; अस्तु यहाँ उस प्रतिवेदन का विहंगवालोकन करना प्रासंगिक लगता है। फरवरी 2, 1835 इस्वी के दिन ब्रिटिश संसद के निचले सदन में विलियम एडम तथा उसके अधीन कार्यरत टी.वी. मैकाले द्वारा भारत की पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था पर प्रस्तुत प्रतिवेदन पर बहस हुई। उस दौरान मैकाले के वक्तव्य का सारांश कुछ इस प्रकार था।

मैकाले ने पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण संपूर्ण भारत का दौरा किया, पर उसने कहीं कोई भिखारी, चोर, बेरोजगार या पराश्रित व्यक्ति नहीं देखा। भारतीय लोग बहुत संपन्न थे। यहाँ की शिक्षा व्यवस्था बहुत सुंदर, सुदृढ़ और सुव्यवस्थित थी, जिसके कारण इस विशाल भूखंड में साक्षरता कहीं भी 87-88 प्रतिशत से कम न थी। बल्कि दक्षिण भारत में तो यह 98 प्रतिशत थी। विद्यार्थियों में सामाजिक रूप से पिछड़ों और महिलाओं की संख्या सबसे अधिक थी। भारत में कुल 7,32,000 राजस्व गाँव

**पूर्वजों ने चरित्र और धर्म, विज्ञान, साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ भी पराक्रम किया है, उस सारे विस्तार को हम गौरव के साथ धारण करते हैं और उसके तेज को अपने भावी जीवन में साक्षात देखना चाहते हैं। वही राष्ट्रवर्धन का स्वाभाविक प्रकार है, जहाँ अतीत वर्तमान के लिए भार रूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान को जकड़े रखना नहीं चाहता वरन अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढ़ाना चाहता है, उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं।**

थे; हर गाँव में गुरुकुल थे, जिनमें विद्यार्थियों की संख्या 200 से 20,000 तक थी। हर गुरुकुल में एक उच्च अध्ययन केंद्र था, जिसमें गुरुकुल का आचार्य 40-50 की संख्या में मेधावी छात्रों को प्रशिक्षण देता और वे विद्यार्थी अपने नीचे या बाद में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों को शिक्षा देते। इस तरह आचार्य की दी हुई शिक्षा सबसे निचले स्तर के विद्यार्थी तक पहुँच जाती। गुरुकुल के आचार्य को कुलपति कहते थे। बच्चा

5 वर्ष की आयु में गुरुकुल में प्रवेश करके 21-22 वर्ष की उम्र में पूर्ण प्रशिक्षित होकर निकलता।

उन दिनों भारत के गुरुकुलों में लगभग 18 विषय पढ़ाए जाते, जिनको विद्यार्थी एक के बाद एक अध्ययन करते। एक विषय की शिक्षा पूर्ण होने पर कुलपति उसे कुछ प्रायोगिक कार्य करने को देते और विद्यार्थी उस कार्य को किस तरह से अंजाम देता है, उससे उसके हुनर या कौशल का मूल्यांकन किया जाता। इन 18 विषयों में सर्वाधिक ज्ञान वैदिक गणित का दिया जाता। गणित के बाद दूसरा बड़ा विषय था खगोल शास्त्र, उसके बाद धातु विज्ञान यानी मेटालर्जी तीसरे नंबर पर था। चौथे नंबर पर बढ़ई, लोहार,कुम्हार, बांस-बेंत की कारीगरी जैसी 18 प्रकार की विद्याएँ सिखाई जाती। उसके बाद एस्ट्रोफिजिक्स, रसायन व चिकित्सा शास्त्र आदि पढ़ाया जाता। चिकित्सा शास्त्र में उन दिनों औषधि और शल्यक्रिया का अभ्यास करवाया जाता था।

मैकाले के अनुसार उन दिनों भारत में गुरुकुल लगभग 25 एकड़ भूमि पर बनते और अधिकतर गुरुकुल आवासीय ही होते थे। भारतीय विद्यार्थियों को दो चीजें सिखाई जाती थीं- एक शिक्षा, और दूसरी थी विद्या; पर शिक्षा और विद्या में अंतर मैकाले की समझ में नहीं आया। विद्यार्थियों से सुने इन दो शब्दों को वह पर्यायवाची मानता था। हमारे यहाँ आधुनिक भारत में जितने स्कूल हैं उन्हें हम विद्यालय तो कहते हैं, पर यहाँ विद्या नहीं सिखाई जाती। गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करने वाले बच्चों को विद्यार्थी कहा जाता, क्योंकि यह सारी कलाएँ विद्या के अधीन ही आती हैं। विद्या सीखने के लिए ही बच्चा गुरुकुल में प्रवेश करता था, ताकि वह अपना जीवन निर्वाह करने के कौशल के साथ-साथ लोक-परलोक और आत्मा-परमात्मा इत्यादि आध्यात्मिक चेतना व नैतिक मूल्यों को अपने जीवन में उतार सके।

मैकाले के अनुसार उन दिनों भारत में 15,800 से भी ज्यादा उच्च शिक्षा संस्थान यानी विश्वविद्यालय थे। पर हम लोगों ने तो सिर्फ नालंदा और तक्षशिला का ही नाम सुना है, मध्ययुग में जिन्हें मुस्लिम आक्रांताओं ने नष्ट कर दिया था। पर मैकाले ने 1835 में कहा था कि यहाँ 15,800 विश्वविद्यालय तब भी थे, जो सिर्फ किसी एक ही विषय में विशेषज्ञता प्रदान करते थे। अमरावती विश्वविद्यालय धातुविज्ञान के लिए मशहूर था; जहाँ कच्चे लोहे से फौलाद बनाना, उत्खनन के बाद लोहा, तांबा, चांदी, सोना आदि धातुओं का शोधन सिखाया जाता था। शल्यक्रिया के लिए मशहूर हिमाचल के कांगड़ा विश्वविद्यालय में 'राइनोप्लास्टी' यानी 'स्किन ग्राफ्टिंग' किया जाता था। मैकाले ने अपनी आँखों से वहाँ एक राइनोप्लास्टी शल्य-क्रिया देखी थी, जिसमें पैर से चमड़ी निकालकर उसे व्यक्ति की नाक पर स्थापित किया गया और वह 21 दिन में ठीक हो गया। कर्नल कूट नाम का एक अंग्रेज़ अधिकारी हैदर अली से लड़ाई में हार गया तो उसे माफ करते हुए हैदर अली ने उसकी नाक काट दी थी। बेलगाँव के एक वैद्य ने शल्यक्रिया के जरिए उसकी नाक ठीक कर दी। युद्ध में हारे हुए व्यक्ति की हत्या न करके उसे जिंदा छोड़ देना भारतीय जीवन-मूल्यों की ओर इशारा करता है। मैकाले ने कहा कि सर्जरी का एक आचार्य सामान्य रूप से उच्च स्तर के जंगरोधी लोहे से बने 500 औजार रखता था।

लगभग ढाई सौ साल पहले ग्रीस में जन्मे हिप्पोक्रटिस के तरीके से उन दिनों यूरोप में हर बीमारी का एक ही इलाज था। उसके अनुसार कोई भी बीमारी शरीर में रक्त दूषित होने के कारण होती है; इसलिए दूषित रक्त को निकाल देने पर ही बीमारी ठीक हो सकती है। इसके लिए वे लोग हाथ के नस को काटकर खून बहाते। अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन को बुखार आया तो डॉक्टर ने आकर दोनों हाथों की नसें काट दी और बोला कि खून बहने दो रात भर, हम सुबह आएंगे; और सुबह डॉक्टर आया तो जॉर्ज वाशिंगटन की मौत हो चुकी थी। लेकिन इतिहास के उस पड़ाव पर भी भारत में बीमारी का इलाज विशेष प्रकार से बने जड़ी-बूटियों वाले चूरन की दो-तीन खुराक से ही हो जाता था। मैकाले ने भारत के गुरुकुलों में पूछ-पूछ कर 16000 से भी अधिक फॉर्मूलों की सूची बना ली थी।

मैकाले ने कहा कि भारतवासी जंग न लगने वाला लोहा दसवीं शताब्दी से बनाते आए हैं। महरौली का लौह-स्तंभ इसका प्रमाण है। यह पूछे जाने पर कि इतनी सारी विद्याएँ एक साथ हर विद्यार्थी को क्यों दी जाती है, उसने कहा कि भारत में लोगों का मानना है कि मनुष्य का जीवन एकांगी नहीं; बल्कि 'परोपकाराय स्वर्गाय' की भावना भारतीय जन-जीवन का मूलमंत्र है। इसलिए हर नागरिक की सारी विद्याओं के ज्ञान के साथ-साथ अपनी रुचि अनुसार किसी एक विषय में विशेषज्ञता होनी चाहिए, ताकि गुरुकुल से समाज सेवा का संकल्प लेकर निकलने वाला विद्यार्थी अपनी आजीविका के साथ-साथ समाज की सेवा भी कर सके।

विलियम एडम ने अपने प्रतिवेदन में दक्षिण भारत के गुरुकुलों का उल्लेख किया था। आंध्र प्रदेश में विशाखापट्टनम से थोड़ी दूर कावेरी नदी के पास 12 वीं शताब्दी का एक प्राचीन गुरुकुल है। सिविल इंजीनियरिंग वाले इस गुरुकुल के विद्यार्थी और आचार्यों ने मिलकर सन् 1238 में दक्षिण भारत की सबसे अधिक प्रवाह वाली चिरस्रोता कावेरी नदी पर पत्थर और चूने से 'Z' आकार का एक 1.5 किलोमीटर लंबा बाँध बनाया है। दुनिया का यह पहला डैम अभी तक मौजूद है, जिस पर तेलुगु भाषा में एक फलक लगा है। हैदराबाद अभिलेखागार और गजट में इसका उल्लेख मिलता है। भारत के गुरुकुल आचार्य और विद्यार्थी समाज का कितना कल्याण करते हैं, इससे विलियम एडम अभिभूत था। बाँध राजा नहीं, विद्यार्थी और आचार्य बनाते। एडम ने लिखा है कि भारत में हजारों ऐसे तालाब हैं जिन्हें विद्यार्थी और आचार्यों ने मिलकर बनाया है; ऐसी हजारों गौशालाएँ व धर्मशालाएँ हैं जो विद्यार्थी और आचार्य मिलकर चलाते हैं। एडम ने लिखा है कि भारत के गुरुकुलों ने समाज के सर्वांगीण विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है जो हजारों सालों तक समाज का कल्याण करता रहेगा। एडम ने कई कृषि विज्ञान गुरुकुलों का भी उल्लेख किया। तमिलनाडु के एक गुरुकुल में उन दिनों एक एकड़ जमीन पर 56 क्विंटल चावल उगाया जाता था। ऐसी थी हमारी शिक्षा व्यवस्था।

एडम और मैकाले ने कहा कि भारत की समृद्धि इन्हीं गुरुकुलों के कारण है;

भारत को गुलाम बनाना है तो इस कौशल-विकास आधारित शिक्षा व्यवस्था को समूल नष्ट करना पड़ेगा। मैकाले की इसी विवेचना और प्रस्ताव के अनुसार बर्तानी हुकूमत ने 1840 से लेकर 1940 यानी 100 वर्षों तक भारतीय पारंपरिक शिक्षायतनों पर अकथनीय अत्याचार ढाते हुए उसे पूरी तरह तहस-नहस करके जिस अंग्रेजी शिक्षा का प्रवर्त्तन किया, उसका नतीजा यह हुआ की भारतीय युवाओं को अपना गौरवमय इतिहास विस्मृत हो गया और वे योरोप वालों के मानसिक गुलाम बन गए। आज़ादी के इतने साल बाद भी हमारे देश में ऐसे लोगों की संख्या बहुत है। यहाँ तक कि हमारे कई राजनेता विदेशों में कहीं जाते हैं तो भारत के बारे में अनाप-शनाप बकवास करते निराधार बातें बोलते दिखाई देते हैं, ऐसे अपनी जड़ों से कटे हुए और स्वाभिमान विवर्जित लोग भला देश को क्या नेतृत्व दे सकेंगे?

दूसरी ओर उन दिनो योरोपीय देशों की स्थिति कैसी थी? बुखार का इलाज़ करवाते हुए अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज वाशिंगटन की मौत किस तरह हुई वह बात तो हम ऊपर बता चुके हैं। 1835 तक तो संपूर्ण ब्रिटेन, यानी आयरलैंड स्कॉटलैंड और न्यू साउथ-वेल्स में कुल मिलाकर लगभग 240 स्कूल ही थे, जिनमें गणित पढ़ाने वाला कोई न था; वहाँ तो सिर्फ बाइबल पढ़ाया जाता। वहीं हमारे यहाँ 7,32,000 भारतीय गुरुकुलों में छात्राओं के लिए महिला और छात्रों के लिए पुरुष आचार्य होते थे। इंग्लैंड में 16 वीं शताब्दी तक एक भी स्कूल न था; 18 वीं शताब्दी तक तो यूरोप के लोगों को केमिस्ट्री, मेटालर्जी, सर्जरी आदि के बारे में कोई जानकारी ही नहीं थी।

यहाँ उल्लेखनीय है कि मैकाले का विश्लेषण सटीक था। गुरुकुलों में चिकित्सा, धातु विज्ञान, खगोल विद्या, कारीगरी तथा यान्त्रिकी आदि सभी विषयों के सिद्धांतों की पढ़ाई के साथ साथ सभी विद्याओं में व्यक्तिगत अनुभव आधारित

अभ्यास भी करवाया जाता था; और उस अभ्यास व प्रशिक्षण के लिए उन्हें देश व समाज के किसी अति-आवश्यक परियोजना में नियोजित किया जाता। इसके परिणाम स्वरूप राजा या प्रशासन पर विकास कार्यों का बोझ बहुत कम हो जाता। गुरुकुलों द्वारा कावेरी बाँध के निर्माण, तालाब, गौशाला आदि के संचालन से इसका प्रमाण मिलता है। पुनश्च, व्यापक अनुभव आधारित कौशल विकास के कारण विद्यार्थी गुरुकुल से निकलते ही अपनी आजीविका अर्जन करने तथा सामाजिक सहयोग के क्षेत्र में उत्साह के साथ शरीक हो जाता था। ऐसी स्थिति में मैकाले को भला सम्पूर्णभारत वर्ष में कोई चोर, भिखारी या बेरोजगार आदमी कहाँ से मिलता?

मैकाले-प्रतिवेदन के इस विश्लेषण से यह तो स्पष्ट पता चलता है कि हमारे यहाँ शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक-भौतिक व आध्यात्मिक विकास का एक सुगुम्फित मॉडल प्राचीन काल से ही विद्यमान है; और संभवत: गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी आदि जैसी तमाम राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान उसी मॉडल को पुन: लागू करने में ही निहित है। सांस्कृतिक चेतना के बिना विद्यार्थी सुनागरिक नहीं बन सकता। स्वयं जीने के अलावा राष्ट्र के प्रति भी कुछ कर्तव्य हर नागरिक के कंधों पर होते हैं। बड़े सुख की बात है कि वर्तमान सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के ज़रिए शिक्षा को युगानुकूल तथा वैश्विक आवश्यकताओं और चुनौतियों का सामना करने योग्य बनाने के लिए पुन: अपनी पारंपरिक स्थिति की ओर फेरने की पहल की है। आधुनिक शिक्षायतनों व उनके पाठ्यक्रमों को बहुविषयक व बहुआयामी बनाते हुए कौशल विकास पर बल दिया जा रहा है। पाठ्यक्रमों को भारतीय संस्कृति से जोड़ने के लिए उसमें आमूलचूल परिवर्तन किए जा रहे हैं। मैकाले की शिक्षा पद्धति से उच्च डिग्री प्राप्त नियमित प्राध्यापकों व प्रोफेसरों की तुलना में कहीं अधिक ज्ञान-कौशल के अधिकारी अनेक लोग उच्च शिक्षा संस्थानों के बाहर रहकर भी सफलता प्राप्त कर रहे हैं। ऐसे लोगों के ज्ञान-कौशल का लाभ विद्यार्थियों को देकर अपनी परम्पराओं और संस्कृति की जड़ों को सींचते हुए दृढ़-चरित्र, ऊर्जावान, साहसी, कुशल व उद्यमी युवा वर्ग का निर्माण करने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने एक परिपत्र जारी करके उन्हें 'प्रोफेसर ऑफ प्रैक्टिस' के रूप में उच्च शिक्षायतनों से जोड़ने की व्यवस्था की है। मूल्यांकन पद्धति को भी गुरुकुलों की ही तरह वर्ष-भर के उसके आचरण और कौशल विकास के निरीक्षण के जरिए करने की ओर कदम बढ़ाया गया है। आने वाले दिनों में इसके सकारात्मक परिणाम अवश्य देखने को मिलेंगे। ❑

# बेणेश्वर की लोक संस्कृति में भक्ति–ज्ञान की अजस्र धारा

**डॉ. राजेश कुमार जोशी**
सह आचार्य,
संस्कृत विभाग
श्री गोविन्द गुरु राजकीय
महाविद्यालय, बाँसवाड़ा

वागड़ प्रयाग बेणेश्वर धाम संत मावजी की तपोभूमि के रूप में विगत अनेक शताब्दियों से दक्षिण राजस्थान के साथ मेवाड़, मालवा, गुजरात की माव संस्कृति और आध्यात्मिक आस्था को पोषित और पल्लवित करता आया है। भगवान् विष्णु के अवतारी पुरुष निष्कलंक सन्त मावजी की लेखनी से नि:सृत भविष्यवाणियाँ वर्तमान के विज्ञान प्रौद्योगिकीमय वातावरण में भी सत्य सिद्ध हो रही हैं। लगभग तीन शताब्दियों से मानव धर्म और प्रेम पूर्ण लोक व्यवहार का पैगाम देने वाले मावजी महाराज के लाखों भक्त आज भी पारम्परिक रूप में भगवान् श्रीकृष्ण और रुक्मणी प्रसंगों को विभिन्न लोकगीतों और लोकनृत्यों के माध्यम से विभिन्न अवसरों पर प्रस्तुत करके समाज में नई चेतना और सौहार्द्र की धाराएँ प्रवाहित कर रहे हैं। मावजी महाराज एवं उनके परवर्ती पीठाधीश्वरों द्वारा ईश्वर की प्राप्ति के लिए सहज योग, आनन्द और मानवीय मूल्यों के साथ कर्मरत रहने का संदेश देने वाले भजनों, गीतों और नृत्य आदि के माध्यम से जिन धार्मिक–आध्यात्मिक परम्पराओं का सूत्रपात किया गया है वे आज भी अक्षुण्ण रूप से पूरे वेग के साथ समाज में प्रवाहित हो रही हैं।

संत मावजी महाराज की स्मृति में हर साल बांसवाड़ा और डूंगरपुर जिलों की सीमा पर नदियों के संगम स्थल बेणेश्वर धाम पर लगने वाले मेले के दौरान इन प्राचीन परम्पराओं की जीवन्त झलक देख हर कोई मोहित हो उठता है। सामान्यतया मन्दिरों में प्रधान देवता के प्रति समर्पित एक ही आरती होती है लेकिन संत मावजी की परम्परा में निष्कलंक भगवान् की आराधना में माघ माह और बेणेश्वर मेला अवधि में बेणेश्वर धाम के मुख्य देवालय राधा कृष्ण हरि मन्दिर, साबला में निष्कलंक सम्प्रदाय के विश्व पीठ और वागड़ अंचल सहित देश के विभिन्न हिस्सों में स्थापित निष्कलंक मन्दिरों में प्रतिदिन पाँच–पाँच आरतियों से भगवान का अर्चन होता है।

लगभग ढाई शताब्दी पुरानी परम्परा के अनुसार इस अवधि में इन सभी स्थानों पर प्रात:काल एवं संध्याकाल में संत मावजी के काल से ही रचित पाँच आरतियाँ लोक वाद्यों की स्वर लहरियों के बीच समवेत स्वरों में गायी जाती हैं।

प्रभातकालीन आरती गुग्गुल, दशांग धूप आदि सुगन्धित औषधीय द्रव्यों से की जाती है जबकि शाम की आरती शुद्ध गौघृत भरी दीप वर्तिकाओं के साथ की जाती है। इसके बाद साद भक्तों और अन्य श्रद्धालुओं द्वारा मावजी की उपदेशों भरी वाणीस परम्परागत स्तोत्र, आगमवाणी, भविष्यवाणियों आदि का लयबद्ध गान होता है। इन आरतियों और इससे संबंधित वाणियों में वेदान्त दर्शन, साकार और निराकार ब्रह्म, योग मार्ग के सूक्ष्म रहस्यों, आने वाले निष्कलंक अवतार के स्वरूप, संत माव परम्परा आदि से लेकर लोक कल्याण के दिव्य उपदेश समाहित हैं। सुबह और शाम की जाने वाली आरतियों में अन्नदेव की आरती भी की जाती है। मान्यता है कि अन्नदेव की आरती से माता अन्नपूर्णा प्रसन्न होती हैं और उनकी कृपा से मावजी के भक्तों को जीवन में कभी भी भोजन की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता। यह माव भक्तों का अनुभव है।

**21 वीं सदी में सच होती मावजी महाराज की खास भविष्यवाणियाँ - तीन शताब्दी पूर्व मावजी महाराज द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ आज सत्य सिद्ध हो रही हैं। ये भविष्यवाणियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं और इनके प्रति जनमानस में आस्था है। अपनी भविष्यवाणियों में सन्त मावजी ने युगों से चले आ रहे जाति-धर्म के बंधन टूटने, भक्ति से ही नौका पार लगने, ग्लोबल वार्मिंग से धरती का तापमान बढ़ने, हिमशैलों के पिघल कर पानी-पानी होने, पश्चिमी संस्कृति के अंधानुकरण से होने वाली हानि, ओजोन परत में छिद्र होने के फलस्वरूप सूर्य की पराबेंगनी किरणों से पृथ्वी पर होने वाली ग्लोबल वार्मिंग आदि का उल्लेख किया है।**

अनूठी कला है 'घूड़ी गायन' - उपर्युक्त आरतियों से पूर्व परम्परागत भक्ति साहित्य 'घूड़ी' गाया जाता है जिसमें जीव और आत्मा के लक्ष्य को केन्द्र में रख कर विभिन्न रहस्यों की जानकारियाँ शामिल हैं। सायंकालीन आरती के बाद ज्ञान गोष्ठी होती है जिसमें साद भक्त परस्पर संवाद दोहराते हुए उपदेशों और ब्रह्म के रहस्यों की महिमा का बखान करते हैं। इसके अलावा जहाँ-जहाँ भी बेणेश्वर पीठाधीश्वर की पधरामणी कार्यक्रम होते हैं वहाँ भी ये आरतियाँ होती हैं। दोपहर के कार्यक्रमों में भगवान श्रीकृष्ण के जीवन की लीलाओं का चित्रण करने वाली आरती इसमें समाहित होती है।

**रजत द्वार लोक आकर्षण और आस्था के केन्द्र** - यहाँ के रजत द्वार लोक आकर्षण और आस्था के केन्द्र हैं जिस पर भगवान् विष्णु के अवतारों का अंकन है। यद्यपि अनेक परंपराएँ बंद हो गई हैं किन्तु संत मावजी महाराज की जयन्ती माघ शुक्ल एकादशी पर जब प्रतिवर्ष बेणेश्वर मेले की शुरूआत होती है तब साबला हरि मन्दिर से आए रजत किवाड़ आकर्षण का केन्द्र हुआ करते थे। इन किवाड़ों पर भगवान श्री विष्णु के चौबीस अवतारों की सुन्दर चित्र-मूर्तियाँ अंकित हैं।

वागड़ प्रयाग बेणेश्वर धाम जनजातीय आस्था का महाकुंभ है जो संत मावजी की तपोभूमि के रूप में प्रसिद्ध है (300 साल पहले मावजी महाराज द्वारा की गयी भविष्यवाणियाँ सच साबित हो रही हैं)

दक्षिणी राजस्थान में डूँगरपुर जिले में माही, सोम और जाखम नदियों के संगम पर अवस्थित बेणेश्वर धाम राजस्थान सहित मध्यप्रदेश और गुजरात के आदिवासी समाज की धर्मसंस्कृति

और सामाजिक चेतना का केन्द्र है। भारतीय संवत के अनुसार प्रतिवर्ष माघ पूर्णिमा पर यहाँ मेला भरता है, जिसमें आदिवासियों के साथ सर्वसमाज के लोग भाग लेते हैं। सन्त मावजी महाराज के साथ कबीरदास जी और मीरा बाई के भजन भी यहाँ की फिजाओं में गूँजते हैं। मनोकामनापूर्ति के लिये माव भक्त दूरदराज से आते हैं। संगम स्थल पर स्नान करने, टापू पर अवस्थित प्राचीन मंदिरों में दर्शन करने और पितरों को श्राद्ध देने का क्रम यहाँ वर्ष पर्यन्त चलता है। मूल रूप से बेणेश्वर धाम का नाम भगवान् शिव के बाणेश्वर मंदिर से जुड़ा हुआ है। यहाँ भगवान् विष्णु का मन्दिर भी है। भविष्य वक्ता सन्त मावजी को भगवान् विष्णु का अवतार माना जाता है, जिन्होंने यहाँ कठोर तपस्या करके जनजाति समाज में सामाजिक चेतना जगाई थी। इस प्रकार बेणेश्वर धाम और उसके सुरम्य टापू पर प्राचीन शिवमन्दिर, ब्रह्मा मन्दिर, वाल्मीकि मन्दिर-धूणी और कबीर धाम विभिन्न जातियों, आस्थाओं और मत-मतान्तरों का सामूहिक जागृति केन्द्र बना हुआ है।

सन्त मावजी महाराज का व्यक्तित्व और कृतित्व - लगभग 300 वर्ष पूर्व (संवत् 1771) को माघ शुक्ला, पंचमी के दिन साबला कस्बे में जन्मे मावजी महाराज ने यहाँ तपस्या करने के बाद प्रजातन्त्र की स्थापना, छुआछूत और पाखण्ड का विरोध करते हुए कलियुग में बदलते सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को लेकर अपने विभिन्न ग्रन्थों में भविष्यवाणियाँ की। ये भविष्यवाणियाँ ख्यात रुसी भविष्यवक्ता 'नास्त्रेदमस' के समान सत्य सिद्ध हो रही हैं। बेणेश्वर धाम के प्रति लोगों की आस्था का एक कारण मावजी महाराज की ये भविष्यवाणियाँ भी हैं।

मावजी महाराज का कृतित्व उनके व्यक्तित्व पर भारी है। उनके द्वारा लिखे

गये पाँच ग्रन्थ 'चोपड़ा' कहे जाते हैं, जिनमें से चार सुरक्षित हैं। ये चार चोपड़ा ग्रन्थ हैं -

**1. मेघसागर** - इस ग्रन्थ में गीता ज्ञान और भौगोलिक परिवर्तनों से सम्बद्ध भविष्यवाणियाँ हैं। यह हरि मन्दिर साबला में सुरक्षित रखा हुआ है।

**2. सामसागर** - इसमें धोलागढ़ के पवित्र पर्वत का वर्णन और महाराज के दिव्य उपदेश लिपिबद्ध हैं। यह ग्रन्थ शेषपुर गाँव के मन्दिर में सुरक्षित रखा हुआ है।

**3. प्रेमसागर** - इस चोपड़ा ग्रन्थ में धर्म सम्बन्धी उपदेश, इतिहास, भूगोल और भावी घटनाओं की प्रतीकात्मक जानकारी है। इसे पुंजपुर गाँव के मन्दिर में रखा हुआ है।

**4. रतनसागर** - इसमें कृष्णलीलाओं और रासलीलाओं का रंगीन चित्रात्मक मनोहारी वर्णन है। यह बाँसवाड़ा के त्रिपोलिया रोड़ स्थित विश्वकर्मा मन्दिर में सुरक्षित है।

ज्ञान-विज्ञान आधारित पाँचवा 'अनंत सागर' ग्रन्थ मराठा आक्रमण के समय पेशवा बाजीराव ले गये। कहा जाता है कि इसे बाद में अंग्रेज अपने साथ लंदन ले गये। वागड़ क्षेत्र में निष्कलंक भगवान् के रूप में पूजे जाने वाले बेणेश्वर धाम के मंहत मावजी की कलम से वागड़ी में हस्तलिखित लगभग 72 लाख 66 हजार भविष्यवाणियाँ हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञान भण्डार, अकल रमण, सुरानन्द, भजनावली, भवन स्तोत्र, कलंगा हरण और न्याव आदि कृतियाँ भी मावजी महाराज की लेखनी से नि:सृत हैं।

**21 वीं सदी में सच होती मावजी महाराज की खास भविष्यवाणियाँ** - तीन शताब्दी पूर्व मावजी महाराज द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ आज सत्य सिद्ध हो रही हैं। ये भविष्यवाणियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं और इनके प्रति जनमानस में आस्था है। अपनी भविष्यवाणियों में सन्त मावजी ने युगों से चले आ रहे जाति-धर्म के बंधन टूटने, भक्ति से ही नौका पार लगने, ग्लोबल वार्मिंग से धरती का तापमान बढ़ने, हिमशैलों के पिघल कर पानी-पानी होने, पश्चिमी संस्कृति के अंधानुकरण से होने वाली हानि, ओजोन परत में छिद्र होने के फलस्वरूप सूर्य की पराबेंगनी किरणों से पृथ्वी पर होने वाली ग्लोबल वार्मिंग आदि का उल्लेख किया है। ❑

# भारतीय लोककलाओं का इतिहास

**डॉ. उषा शर्मा**

असि. प्रोफेसर, एस. एस. जैन सुबोध महिला शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, सांगानेर, जयपुर (राज.)

भारतीय लोक कलाएँ मूल रूप से जन सामान्य की कला हैं। उनका इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि भारतीय ग्रामीण सभ्यता का। सिन्धु घाटी की सभ्यता से मिले अवशेषों को यदि भारतीय लोक कला के प्रारम्भिक नमूने माना जाय तो यह परम्परा ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पुरानी मानी जा सकती है। लोक कलाकारों ने लगभग प्रत्येक काल में लोक कलाकृतियों का सृजन किया परन्तु वे नमूने आज उपलब्ध नहीं हैं। 18वीं सदी के अंत और 19वीं सदी के आरंभ में संयुक्त राज्य अमेरिका में लोक कला परंपरा बड़ी तीव्र गति से विकसित हुई, मुख्य रूप से पूर्वोत्तर में जब देश क्रांतिकारी युद्ध के प्रभाव से उबर गया। इस अवधि के दौरान, यूरोपीय उपनिवेशवादियों ने अपने घरेलू देशों की कलात्मक परंपराओं को पुनर्जीवित करना प्रारंभ कर दिया।

लोक कलाएँ एक समुदाय के सांस्कृतिक जीवन को परिलक्षित करती हैं। कला के रूप में लोककलाओं और सांस्कृतिक विरासत के क्षेत्रों से जुड़ी अभिव्यंजक संस्कृति शामिल है। मूर्त लोक कला में वे वस्तुएँ शामिल हो सकती हैं जो ऐतिहासिक रूप से एक पारंपरिक समुदाय के भीतर तैयार की जाती हैं और जिनका उपयोग अभी जारी है सभी कलाएँ किसी के आंतरिक रचनात्मक विचारों और व्यक्तित्व को एक कलात्मक माध्यम से अभिव्यक्त करती हैं। दुनिया में अगण्य कलाएँ हैं और हर एक कला विशिष्ट है। कला के सबसे ऐतिहासिक रूप से समृद्ध और दिलचस्प रूपों में से एक लोक कला है। भारत 50 से अधिक पारंपरिक लोक और जनजातीय कलाओं का आगार है। ये भारतीय लोक कलाएँ 3000 से अधिक वर्षों से पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही हैं। कलमकारी, कांगड़ा, गोंड, चित्तर, तंजावुर, थंगक, पातचित्र, पिछवई, पिथोरा चित्रकला, फड़, बाटिक, मधुबनी, यमुनाघाट तथा वरली आदि भारत की प्रमुख लोक कलाएँ हैं। लोक कला को विभिन्न संस्कृतियों या क्षेत्रों की एक उत्कृष्ट सजावटी, संगीतमई या व्यावहारिक कला के रूप में परिभाषित किया गया है। लोक कला आमतौर पर एक विशिष्ट स्थान के निवासियों के लिए अद्वितीय होती है और समाज की अभिव्यक्ति के रूप में उपयोग की जाती है। लोक कला जनसाधारण की सहज अभिव्यक्ति का ही एक स्वरूप है। यह मानव सभ्यता के साथ शुरू हुई और उसके साथ ही चलती आ रही है। यह मानव सभ्यता के धार्मिक विश्वासों और आस्थाओं के साथ पली-बढ़ी है।

प्रारंभ में एक स्वतंत्र विषय के रूप में लोक कला का अध्ययन नहीं होता था। किंतु गत शताब्दियों से इसका स्वतंत्र अध्ययन प्रारंभ हुआ। इसके स्वतंत्र विषय बनने के साथ ही इसकी सीमाओं परिभाषाओं के संबंध में विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत सामने आये। मानव जीवन में कला का विशेष स्थान है। 'कला' शब्द संस्कृत की कल् धातु में कच् तथा टाप् प्रत्यय (कल् + कच् + टाप्) लगाने से बनता है। संस्कृत कोश में यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है जैसे- किसी वस्तु का खोल, खण्ड, चन्द्रमा की एक रेखा, शोभा, अलंकरण, कुशलता अथवा मेधाविता आदि। किन्तु

इतिहास तथा संस्कृति में 'कला' से तात्पर्य सौन्दर्य, सुन्दरता और आनन्द से है। अपने मनोगत भावों को सौन्दर्य के साथ दृश्य रूप में व्यक्त करना ही कला है।

आचार्य क्षेमराज के अनुसार 'अपने (स्व) को किसी न किसी वस्तु के माध्यम से व्यक्त करना ही कला है और यह अभिव्यक्ति चित्र, नृत्य, मूर्ति, वाद्य आदि के माध्यम से होती है।' इस प्रकार कला मनुष्य की सौन्दर्य भावना को मूर्तरूप प्रदान करती है। वस्तुत: कला का उद्‌गम सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा का ही परिणाम है। प्रत्येक कलात्मक प्रक्रिया का उद्देश्य सौन्दर्य तथा आनन्द की अभिव्यक्ति होता है। मानव एक सामाजिक प्राणी है तथा इस रूप में उसे अपनी भावनाओं तथा विचारों का प्रत्यक्षीकरण करना पड़ता है। यह प्रत्यक्षीकरण अथवा प्रकटीकरण कला के माध्यम से ही संभव है। प्राचीन भारत में कला को साहित्य और संगीत के समकक्ष मानते हुए मानव के लिये उसे आवश्यक बताया गया है। भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में स्पष्टत: लिखा है कि साहित्य, संगीत तथा कला से विहीन मनुष्य पूँछ और सींग से रहित साक्षात् पशु के समान है-

**साहित्यसंगीतकला विहीनः**
**साक्षात्पशु पुच्छविषाणहीनः।**

भारतीय परम्परा में कला को लोकरंजन का समानार्थी निरूपित किया गया है। चूँकि इसका आशय कुशलता अथवा मेधाविता भी है। अंत: किसी कार्य को सम्यक् रूप से सम्पन्न करने की प्रक्रिया को भी कला कहा जा सकता है। जिस कौशल द्वारा किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता का संचार हो जाये, वही कला है। भारतीय कला का इतिहास अत्यधिक प्राचीन तथा गौरवशाली है। वस्तुत: यह कला यहाँ के निवासियों के विचारों को समझने का एक सबल माध्यम है। लोक कला का विकास आदिम कला से ही माना जाता है। आदिम

**पारंपरिक भारतीय लोक कला एक ऐसा शब्द है जो उन लोगों की कलाकृति को संदर्भित करता है जो पेशेवर कलाकार नहीं हैं, जैसे चित्रकार या मूर्तिकार और अक्सर अलगाव में बनाए जाते हैं। हमारी भारतीय कला और संस्कृति में, 'लोक' शब्द मौलिकता और सरलता पर जोर देता है। भारतीय उपखंड में रामायण, महाभारत एवं पौराणिक गाथाओं का नाट्यपूर्ण मंचन करने की प्राचीन परंपरा रही है।**

कला मनुष्य की उस अवस्था की कला है जब मनुष्य घने जंगल में रहता था और संघर्षमय जीवन यापन करता था। विपरीत परिस्थितियों से स्वयं को सुरक्षित रखने के प्रयत्न में पर्वतों, कन्दराओं में आश्रय लेता था। इन विषमताओं से जूझते हुए भी मनुष्य ने अवकाश के क्षणों में उस सौन्दर्य भावना को व्यक्त करने का प्रयत्न किया जिसे उसने जीवन संघर्ष के विभिन्न अवसरों पर अनुभूत किया था। मानव अपने इसी सौंदर्यबोध का विकास अपने परिश्रम से निरन्तर करता चला आया है। कला रूपों की यह विकास यात्रा किसी एक देश या जाति से संबंधित नहीं है बल्कि समस्त मानव जाति से है। यह लोक मानस से प्रेरणा और पोषण प्राप्त करती रही है एवं लोक मानस को ही प्रतिबिम्बित करती है। लोक कला आत्मिक शांति, मर्यादा एवं मंगल की भावना से ओतप्रोत होकर विकासमान होती है। लोक कला अपने परम्परागत विश्वासों, धारणाओं, आस्थाओं, रहस्यात्मक संकेतों और अतीत की प्रेरणा पर आधारित होते हैं। इसका उदय समाज के रीति-रिवाजों पर आधारित होता है। क्रमश: परम्परागत रीति-रिवाजों में परिवर्तन के साथ इसका रूप भी बदलता जाता है। लोक कला- स्थानीय समुदाय की समग्र कलात्मक गतिविधि विशेषत: ग्रामीण पर आधारित है। रचनात्मकता के अलावा, जिसे लोक कला के लिए कला कहा जाता है इसमें संगीत, नृत्य, किंवदंतियाँ, परियों की कहानियाँ, लोक कविता और लोक रीति-रिवाजों के पूरे कलात्मक पक्ष भी शामिल हैं। ये सभी घटनाएँ एक दूसरे के साथ और गाँव के जीवन से जुड़ी हुई थीं और एक लोक संस्कृति का निर्माण करती थीं। भारतीय कला और संस्कृति में कहानी कहने की कला तब से रही है जब से मनुष्य एक दूसरे को कहानियाँ सुनाते रहे हैं। यह समय के साथ प्रौद्योगिकी और धर्म और सामाजिक मानदंडों में परिवर्तन को प्रतिबिंबित करने के लिए विकसित हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि कहानी कहने की शुरुआत सबसे पहले आग की कहानी से हुई जहाँ लोग रात में आग के चारों ओर इकट्ठा होते थे और एक-दूसरे को कहानियाँ सुनाते थे।

पारंपरिक भारतीय लोक कला एक ऐसा शब्द है जो उन लोगों की कलाकृति को संदर्भित करता है जो पेशेवर कलाकार नहीं हैं, जैसे चित्रकार या मूर्तिकार और अक्सर अलगाव में बनाए जाते हैं। हमारी भारतीय कला और संस्कृति में, 'लोक' शब्द मौलिकता और सरलता पर जोर देता है। भारतीय उपखंड में रामायण, महाभारत एवं पौराणिक गाथाओं का नाट्यपूर्ण मंचन करने की प्राचीन परंपरा रही है। चित्र कथा, कठपुतली एकलपात्र, नाट्य गान, महाराष्ट्र में कीर्तन, उत्तरी भारत में राम लीला का मंचन होता रहा है। कुछ कलाएँ किसी मात्रा में आज भी मंचित की जाती हैं तो बड़े पैमाने पर बहुत सी कलाएँ लुप्त होने के कगार पर हैं तो हमारा मौलिक कर्तव्य है कि हम इन लोक कलाओं को सुरक्षा प्रदान करें। ❑

# लोकनाट्यों के सामाजिक सरोकार

**डॉ. आदित्य कुमार गुप्त**
आचार्य (हिन्दी विभाग),
राजकीय कला महाविद्यालय,
कोटा (राज.)

नाटकों के आदि आचार्य भरतमुनि का समय नाटकों की उत्पत्ति का काल माना जाता है। भरत मुनि ने नाटक को पाँचवाँ वेद मानते हुए स्पष्ट किया कि नाटक की परिधि सीमित नहीं हैं। उसमें कलात्मकता है, ज्ञानात्मक तत्त्व है तथा इसके उद्देश्य नैतिकता के पूर्ण है। संस्कृत में नाटकों की सुदीर्घ एवं विशाल परंपरा मिलती है जो आज तक अनवरत प्रवाहमान है। पर लोकनाट्यों का उद्‌भव कब और कैसे हुआ? यह तय करना कठिन है। शास्त्रीय माने जाने वाले संस्कृत रंगमंच भरतमुनि के विचारों को पूर्ण करने में असमर्थ हो गये थे, क्योंकि वह अभिजात्य, उच्चवर्गीय राजाओं, उनके शिक्षित कुलीनों का होकर रह गया था। वह आमजन का रंग-मंच नहीं था तो ऐसे में एक अलग आम जनता का रंगमंच विकसित हुआ जिसे लोकनाट्य कहा गया ।

लोकनाट्यों का उद्‌भव सामाजिक तत्त्वों के साथ हुआ है और इसका मुख्य उद्देश्य सामूहिक मनोरंजन तथा समाज को किसी न किसी प्रकार के नैतिक सदाचरण, मानवीय गुणों, लोकादर्श आदि की शिक्षा देना रहा है। जहाँ तक लोकनाट्यों के प्रसार की बात है तो नि:संकोच कहा जा सकता है कि संस्कृत के पश्चात् भक्तिकाल ने लोकनाट्यों के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। राम और कृष्ण की प्रचलित कथाएँ, घटना प्रसंग को लेकर लोकनाट्य खेले जाते रहे हैं। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बल्लभाचार्य के प्रयासों से श्रीकृष्ण लीला के क्षेत्र में गीतात्मकता का समावेश हुआ। तुलसी ने काशी में रामलीला मण्डली स्थापित की। देश के विभिन्न क्षेत्रों में लोकनाट्यों की विभिन्न परंपराएँ एवं रूप प्रचलित रहे हैं। मध्यकाल में जहाँ मुस्लिम शासकों की कट्टरता ने साहित्यिक रंगमंच को क्षति पहुँचाई, वहीं लोक भाषाओं ने लोकनाट्यों को जमीन प्रदान की। लोकनाट्य मातृभाषा में मंचित होते हैं। पात्र उस क्षेत्र के आम जन की भाषा का संवादों और गीतों में प्रयोग करते हैं। यही कारण है लोकनाट्यों से प्राप्त संदेश लोक मानस पर शीघ्र और तीव्रता से प्रभाव डालते हैं। मानवीय स्वभाव है कि वह दृश्य रूप को शीघ्र ग्रहण करता है। इसी क्रम में रासलीला, रामलीला तथा आधुनिक काल में नौंटकी का विकास हुआ। आज लोकनाट्यों का जो स्वरूप मिलता है, उसमें लोक जन की महती भूमिका है। संपूर्ण नाट्य साहित्य को देखा जाये तो इसके दो स्थूल रूप प्राप्त होते हैं एक लोकनाट्य का दूसरा शास्त्रीय नाटक का। चूँकि मानव

सभ्यता में लोक और अभिजात ये दो वर्ग (मानव समुदाय के) चिरकालिक हैं। अत: साहित्य भी इन्हीं दो रूपों, रंगों में मिलता है। लोकजीवन ठेठ रूप में पाया जाता है, इसीलिए लोकनाट्य में जीवन यथार्थ और विविध रूपों, रंगों में मिलता है। लोक जीवन की एक आंतरिक विशेषता है- यथार्थ जीवन प्रसंग। इसका अर्थ है- यथार्थ घटी हुई घटना या घटनाएँ। शास्त्रीय नाटकों में ऐसा देखा गया है कि उनकी कथा तो किसी प्रसिद्ध आख्यान पर आधारित होती है किंतु उसका विस्तार नाटककार अपनी कल्पना शक्ति से करता चलता है। लोकनाट्य में ऐसा नहीं होता है, वहाँ एक यथार्थ कथा होती है और उसका हू-ब-हू चित्रण होता है। कल्पना का पुट अधिक नहीं होता। उसमें सहजता और स्वाभाविकता का समावेश रहता है। शास्त्रीय नाटक में तीन तत्त्व होते हैं - कथावस्तु, गीत और रस। लोकनाट्य में पाँच तत्व होते हैं- लोक कथा, गीत, नृत्य, मिथ (पुराण अर्थात् नाट्य रूढ़ियाँ) तथा यथार्थ जीवन प्रसंग। रंगमंच की दृष्टि से देखें तो शास्त्रीय नाटक में रंगमंच की विभिन्न मंचीय औपचारिकताएँ होती हैं जबकि लोकनाट्य के मंचन के लिए किसी सुसज्जित रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती है। लोकनाट्य कहीं भी किन्हीं अभिनेताओं के साथ प्रदर्शित किया जा सकता है, न इसमें पट परिवर्तन के प्रसाधन की जरूरत है और न दृश्य परिवर्तन की, और न ही पात्रों के रूप सज्जा की। लोकनाट्य का मंच चारों ओर से खुला रहता है। बीच में अनौपचारिक मंच होता है, जहाँ लोग घेरा बनाकर बैठते हैं। अब आधुनिक तकनीकी विकास के कारण माइक आदि की व्यवस्था भी होने लगी है। गाँव का चौराहा या किसी विशेष व्यक्ति का चौड़ा आँगन या मंदिर का चबूतरा ही नाट्य के मंचित होने के स्थान हैं। लोकनाट्य के अभिनय में कलात्मक प्रभाव पैदा करने का कोई पूर्वाग्रह नहीं देखा जाता है। वहाँ पात्र सामान्य अभिनय के द्वारा संवाद बोलते हैं और नाटक की कथा आगे बढ़ती जाती है।

पहले सामान्यत: स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष पात्र ही करते थे। हाँलाकि उनमें इतनी स्वाभाविकता होती थी कि दर्शक सहज ही भाव-विभोर हो जाता, परंतु अब धीरे-धीरे स्त्री-पात्रों का प्रवेश हो गया है। किसी-किसी लोकनाट्य में एक पात्र ही दो पात्रों की भूमिका निभाता देखा जाता है। संवाद जोर-जोर से बोले जाते हैं। प्रसिद्ध नाटककार डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल ने लिखा है- ''लोक रंगमंच में कहीं से भी औपचारिकता नहीं है। यहाँ तक कि प्रवेश और प्रस्थान भी अनौपचारिक हैं। सब कुछ इतना यथार्थ कि सब यथार्थ का भ्रम ही उठ जाये और दर्शक उसका अविच्छिन्न अंश होकर उसमें रंगरत हो जाये क्योंकि लोक मंच पर जो कुछ भी देख रहा है वह सब वास्तविक है। यथार्थ है, वह सब कुछ जैसे अपनी यथार्थ प्रतिध्वनि देख रहा है और उसके जीवन की जो क्षति थी शायद वह पूर्ति पा रही हो।'' लोकनाट्यों में आवेग और भावुकता अपने संपूर्ण वेग के साथ प्रस्फुटित देखी जाती है । यहाँ लोक-जीवन विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है। लोकनाटक सामूहिक चेतना, आवश्यकताओं और प्रेरणाओं से निर्मित होने के कारण लोक कथानकों, लोक विश्वासों और लोक के विविध रंगों तथा स्थानीयता की गंध को समेटे चलता है एवं लोक-जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। लोकनाट्यों को विभिन्न आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है। कथावस्तु के आधार पर सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक व राजनीतिक आदि।

**लोकनाट्यों की परम्परा प्राचीन है। लोकनाट्य अशिक्षित ग्रामीण आम जन के मनोरंजन तथा सामाजिक आदर्शों की शिक्षा के माध्यम रहे हैं। इनका सामाजिक सरोकर व्यापक है। समाज के हर वर्ग के स्त्री-पुरुष इन्हें रुचिपूर्वक देखते हैं तथा इनमें अपनी भूमिका का अभिनय भी करते हैं। समय युग एवं परिवेश के अनुसार इनके कथानक तथा स्वरूप में परिवर्तन होता गया है, लेकिन आज भी आम-जन लोक मानस में इनकी गहरी पैठ है। लोकनाट्यों को ग्रामीण जनता के हृदय का टुकड़ा कहा जाता है। डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय ने लिखा है- ''ग्रामीण जनता लोक नाट्य को देखकर प्रसन्नता का जितना अनुभव करती है, उतना अन्य किसी वस्तु से नहीं।''**

कथावस्तु विस्तार के आधार पर लघु-नाटक, प्रहसन, भाँड, स्वाँग आदि। बड़े नाटक रात से सुबह तक चलने वाले। नाट्य-शिल्प के आधार पर- नृत्य प्रधान, नाट्यवार्ता प्रधान। पात्र योजना के आधार पर सजीव पात्र प्रधान, निर्जीव पात्र प्रधान। कुछ विद्वान लोकनाट्यों को दो भागों में विभाजित करते हैं- नृत्य परक लोकनाट्य और प्रहसनात्मक लोकनाट्य। नृत्य-परक लोकनाट्य सामाजिक एवं पौराणिक घटनाओं पर आधारित होते हैं। इनमें संगीत, नृत्य तथा अभिनय की सहायता से दर्शकों को मनोरंजन के साथ-साथ निहित संदेश व्यंजित किया जाता है जबकि प्रहसनात्मक लोकनाट्य में हास्य एवं व्यंग्य के द्वारा विचित्र संवादों, हास्यपरक मुद्राओं का उपयोग किया जाता है तथा ऐसी घटनाओं को विषय बनाया जाता है, जिससे दर्शक हँस-हँस कर लोट-पोट हो जायें तथा निहित संदेश भी समझ जायें। लखनऊ तथा बनारस के भाँड ऐसे प्रहसनों में दक्ष माने जाते हैं। ऐसे प्रहसनों में विदूषक की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। विदूषक बीच-बीच में अपने संवादों से दर्शकों को हँसाता चलता है तथा हल्के-फुल्के ढंग से बड़ी बातें कह देता है जो व्यवस्था, समाज, सत्ता और परिस्थितियों पर गहरी टिप्पणी होती है। अभिनय के समय अभिनेता एवं अभिनेत्री

उच्च स्वर में संवाद करते हैं। सामान्यत: दर्शक इन लोकनाटकों के कथानक से पहले परिचित होता है, उसका आनंद कथा की प्रस्तुति और पात्रों के अभिनय तथा संवादों में होता है।

लोकनाट्यों के कथा प्रसंग किसी ऐतिहासिक, सामाजिक या धार्मिक किंवदन्तियों, कथाओं पर आधारित होते हैं, जो दर्शकों के किसी न किसी रूप में प्रेरणा-स्रोत होते हैं। वीरता, प्रेम, भक्ति-भावना, साहस से संबंधित कथाएँ इनकी उपजीव्य होती हैं। महाभारत, रामायण के ऐसे प्रसंग लोकनाट्यों के कथानक बनाये जाते हैं, जिनमें लोकरुचि एवं लोकादर्श निहित हो तथा जिनके साथ दैनिक एवं लौकिक क्रियायें जुड़ी हों, जैसे- द्रौपदी स्वयंवर, रूक्मिणी मंगल, नल दमयन्ति, शिव-पार्वती, भर्तृहरि, सत्य हरिशचंद्र आदि। प्रेम के क्षेत्र में लैला मजनू, शीरी-फरिहाद, हीर-रांझा, ढोला-मरवण आदि। परंतु आज परिदृश्य बदला है चर्चित राजनीतिक एवं सामाजिक कथा को लेकर जैसे- नशामुक्ति, कन्याभ्रूण हत्या, नारी शिक्षा, दहेज-प्रथा, पर्यावरण संरक्षण आदि को लेकर भी लोकनाट्य अभिनीत हो रहे हैं। बाजार की नीतियों एवं अपनी मजबूरियों के कारण लोकनाट्य का स्वरूप भी बदला है। पहले ऐतिहासिक विषयों पर लोकनाट्य हुआ करते थे, फिर धीरे-धीरे फिल्मी गीतों पर आधारित नाट्यों का प्रदर्शन किया जाने लगा, परंतु अब कहीं-कहीं अश्लीलता भी परोसी जाने लगी है, क्योंकि दर्शकों की रुचि बदल रही है और इन कलाकारों को अपना पेट भी भरना होता है। लोकनाटक गाँवों में, कस्बों में अब भी जीवित हैं, बहुत कुछ अपने मूल रूप में हैं, पर नगरों और महानगरों में अब खत्म हो चुके हैं। पहले फिल्मों ने, अब मोबाइल ने काफी क्षति पहुँचाई है, क्योंकि यह सस्ता और आधुनिकतम मनोरंजन देते हैं। आधुनिक सभ्यता व संस्कृति का इन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

लोकनाट्यों में प्रमुख रूप से ख्याल, रम्मत, गवरी, तमाशा, नौंटकी, कठपुतली, भवाई, चार बैंत, स्वांग आदि प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में ख्याल शेखावाटी, रावलों की खेल, कुचामणी ख्याल, फलौदी ख्याल, बीकानेर की रम्मतें, जैसलमेर की ख्याल, मेवाड की ख्याल, जयपुर की ख्याल, भरतपुर की नौटिकयाँ चर्चित रही हैं। स्वांग चर्चित लोकनाट्य है। उत्तर प्रदेश, राजस्थान एवं हरियाणा में प्राय: अभिनीत किया जाता है।

लोकनाट्यों में प्रहसनात्मक संगीत, नृत्य एवं अभिनय प्रधान नाटकों को स्वांग कहा गया है। स्वांग का अर्थ हैं- ''नकल या नाटक करना। किसी के रूप में स्वयं को आरोपित करना स्वांग कहलाता है। इसमें किसी प्रसिद्ध रूप की नकल की जाती है।

इस प्रकार स्वांग का तात्पर्य लोक समाज में किसी ऐतिहासिक, पौराणिक प्रसिद्ध चरित्र या देवता की नकल में स्वयं का शृंगार करना या स्वयं को उसी चरित्र के रूप में प्रस्तुत करना। यह ग्रामीण मनोरंजन का साधन है। इसका मुख्य उद्देश्य हास्य एवं शृंगार होता है। यह केवल मनोरंजन प्रधान ही नहीं हैं, अपितु इसके माध्यम से धार्मिक मान्यताओं एवं लोक संस्कृति को प्रस्तुत किया जाता है।

भारत वर्ष में लोकनाट्यों के राज्यानुसार विभिन्न रूप मिलते हैं। बंगाल में जात्रा, उत्तर प्रदेश में रासलीला, रामलीला, नौंटकी, मालवा में मांच, दिल्ली में रामलीला, महाराष्ट्र में ललित, दक्षिण भारत में उत्तम थल्लाई (मलाबार), थेरीकुथू (तमिलनाडु), आंध्र प्रदेश की वीथी आदि। इन भिन्न-भिन्न राज्यों में इनकी अलग-अलग विशेषताएँ भी हैं। इनमें कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं। जैसे- क्षेत्रीय या जनपदीय भाषा, संगीतात्मकता, साधारण रंगमंच तथा भावों एवं विचारों की स्पष्टता।

निष्कर्षत : कहना यह है कि लोकनाट्यों की परम्परा प्राचीन है। लोकनाट्य अशिक्षित ग्रामीण आम जन के मनोरंजन तथा सामाजिक आदर्शों की शिक्षा के माध्यम रहे हैं। इनका सामाजिक सरोकर व्यापक है। समाज के हर वर्ग के स्त्री-पुरुष, इन्हें रुचिपूर्वक देखते हैं तथा इनमें अपनी भूमिका का अभिनय भी करते हैं। समय युग एवं परिवेश के अनुसार इनके कथानक तथा स्वरूप में परिवर्तन होता गया है, लेकिन आज भी आम-जन लोक मानस में इनकी गहरी पैठ है। लोकनाट्यों को ग्रामीण जनता के हृदय का टुकड़ा कहा जाता है। डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय ने लिखा है- ''ग्रामीण जनता लोक नाट्य को देखकर प्रसन्नता का जितना अनुभव करती है, उतना अन्य किसी वस्तु से नहीं।'' ❑

# जीवन मूल्य की हेतु - लोक कलाएँ

**डॉ. नीहारिका राठौड़**
सहायक आचार्य, राजकीय कन्या महाविद्यालय, अजमेर(राज.)

'सत्तां केनापि कार्येण लोक्स्याराधनं व्रतं:' संस्कृत उक्ति भवभूति द्वारा रचित उत्तर रामचरितम में से उधृत है जिसका अर्थ है चाहे जो भी हो जनता को प्रसन्न रखना ही राजा का धर्म है। (जब दुर्मुख नामक गुप्तचर श्रीराम को सीता के सम्बन्ध में फैले लोकापवाद को कहता है) भवभूति ने करुणरस की सरिता बहाई है इसमें वही भाव है। यहाँ आशय केवल लोक से है और चिरकाल से हमारी संस्कृति ने शास्त्रीयता के साथ लोक को भी महत्त्व दिया है। लोक कलाएँ राजदरबार से दूर परन्तु उनके राज्य संरक्षण में कहीं न कहीं पनपी जरूर है। लोक कलाकारों ने भी राजसी ऐतिहासिक कथानकों, महापुरुषों, देवी-देवताओं, तीर्थ दर्शनों, परम्परा, बोलचाल, खानपान इत्यादि को अपनी तरह से प्रस्तुत किया है। जो लोक हमारी संस्कृति की नींव है बदलते परिवेश में उसका कहीं न कहीं लोप हो रहा है। भारतीय संस्कृति परंपरा प्रधान ही नहीं विवेक प्रधान संस्कृति भी है। हमारी शिक्षा में जो विक्टोरिया युग का बीज बोया गया वह हमारे कला अस्तित्व को खोखला करता जा रहा था। जहाँ भारतीय कलाओं को अयथार्थ, भौंडी, सौन्दर्य विहीन व कुरूप माना जा रहा था, प्रतीकों का बहिष्कार कर नए बेवजह तर्कों को परोसने का जो जटिल जाल है उसको तोड़ने में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 सहायक होगी। पहले भारतीय गुरुकुल व्यवस्था में बालक के चहुँमुखी विकास पर जोर दिया जाता था। भारतीय कला संस्कृति के संवर्धन हेतु भारतीय हस्तशिल्प, चित्रकारी, मृणकला, आकल्पन, अलंकरण, लोकाख्यान आदि अभिव्यक्ति की विशेषता ही नहीं संप्रेषणीयता व संवेदन के मर्म तक हर बालक को पहुँचाती है तथा इसी माध्यम से देश देशांतर को अध्ययन के लिए प्रेरित करती है।

कुछ इतिहास के पृष्ठों का विचरण करने पर यह ज्ञात होता है कि लोककला केवल अलंकरण तक ही सीमित है और वर्तमान में वह प्रासंगिक नहीं जबकि लोक कलाएँ तिरोहित भाव में आज भी एक सुदीर्घ परंपरा को सौन्दर्य बोध के साथ-साथ अन्तश्चेतना को प्रवाहित करती आ रही हैं। ये हमारी आधुनिक कला और समकालीन कृतियों में तत्संबंधी तथ्यों के साथ स्थित है। मनुष्य का दूसरे मनुष्य के बीच का सम्बन्ध देख लो या मनुष्य-प्रकृति, मनुष्य-पशु सभी में एक ही भाव निहित है वह है 'जीवन मूल्य' जो मनुष्य के स्वाभाव, जीवन जीने का तरीका, सृजनशीलता, मौलिक भाव, कला-चेतना, बुद्धि-बल आदि का संवाहक होता है।

किसी राष्ट्र को जानना है तो उस राष्ट्र की कला संस्कृति और साहित्य को जानना आवश्यक है और नई शिक्षा नीति

ने भी इसी बात पर बल दिया है एक युद्ध सबसे अधिक प्रभावित करता है कला संस्कृति और साहित्य को यदि इन्हें सुरक्षा प्राप्त हो तो युद्ध जैसी विभीषिका ही ना हो भारतीय वांग्मय में यह तीनों आपस में जुड़ी हुई हैं और प्रथाओं परंपराओं त्यौहारों की बेल पर चढ़कर भारत की विविधता को संवर्धित करती है। कलाएँ आत्मा की अभिव्यक्ति ही नहीं वरन भीतर के तनाव, भय, निराशा से मुक्ति का साधन है। भारतीय कला में सदा से अभिव्यक्ति की दो प्रकार की धारा एक साथ बहती हैं, एक तो लोककला दूसरी तरफ परिष्कृत कला और यह मिलकर ही बनाती हैं 'अतुलनीय भारत' या 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' क्योंकि कलाएँ बालक के संज्ञानात्मक विकास की परिचायक है, चाहे वह लोककला हो चाहे ललित कला। भारत में यूं तो सभी अंचलों में लोक कला के विविध आयाम हमें दृष्टिगत होते हैं। जिन्हें शिक्षा में लाना आवश्यक है। क्योंकि आज के समय में ग्रामों का विघटन आम है ऐसे में क्राफ्ट-ग्राम, लोक कला केंद्र, विद्यालयीन शिक्षा जैसी संकल्पना कारगर साबित हो सकती है। जिसमें लोक कला संस्कृति के सभी आयामों की झांकी हमें देखने को मिल सकती है। वैसे तो लोक संस्कृति जिनके भौतिक संसाधन नगण्य होने के उपरांत भी प्राप्त सामग्रियों की इन्होंने उपयोगिता सिद्ध करके उन्हें भी बड़े रोचक तरीके से सजाया है। ऐसे उदाहरणों में लोक भित्ति-चित्र, मुखौटे, पटचित्र, मधुबनी, कलमकारी, गुदने, यमुना-घाट, वर्ली, गोंड, थंगक, पिछवाई, तंजोर, फड़, मांडने, मोलेला, मेहंदी, ऐपन, थेवा, कावड एवं पिथौरा इत्यादि और विभिन्न राज्यों के लोक नृत्य संगीत सभी में पारंपरिकता के साथ आचार-विचार के तत्त्व समाहित हैं। इनमें शुभ का समावेश है। इस प्रकार लोक की समृद्ध विरासत यदि शिक्षा में प्रवेश करेगी तो विद्यार्थी को

**कुछ इतिहास के पृष्ठों का विचरण करने पर यह ज्ञात होता है कि लोककला केवल अलंकरण तक ही सीमित है और वर्तमान में वह प्रासंगिक नहीं जबकि लोक कलाएँ तिरोहित भाव में आज भी एक सुदीर्घ परंपरा को सौन्दर्य बोध के साथ-साथ अन्तश्चेतना को प्रवाहित करती आ रही हैं।**

रंजित करेगी ही। साथ ही साथ उनके जीवन में अनेक सृजनात्मक तत्त्वों को भी पिरोएगी।

**सामूहिक चेतना**

लोक का वैयक्तिकता से कोई नाता नहीं है, चाहे लोक गाथाएँ ले लो, चाहे लोक स्वांग या नृत्य। सभी में एकत्व का भाव रचता, बसता दिखाई देता है। यहाँ जीवन का नाद सामूहिकता में दिखाई जान पड़ता है। आज के समसामयिक परिवेश में विद्यार्थी हित में मानवतावाद का सार कला स्वरूप के साथ-साथ प्राप्त होने की प्रबल संभावना है।

**पर्यावरण संरक्षण की चेतना**

लोक कलाएँ मनुष्य से ऊपर उठकर प्रकृति के उजास से हमें मिलाती हैं। प्रकृति और उसके होने के आभास से जो प्रतिफल प्राप्त होता है वह कला रूपों में हमें देखने को प्राप्त हो जाता है। प्रकृति से संबंधित चित्र गीत एवं कलाएँ आज भी प्रचलन में हैं। उनमें पर्वत-पहाड़, वृक्ष-पादप, फूल-पत्तियाँ, जीव-जंतुओं का अप्रतिम साहचर्य देखने को मिलता है। लोक गायन में प्रकृति के विंबों को अपने संगी के रूप में बिंबित करते हैं। वे उनके सुख-दुख के साथी के रूप में गाने या चित्रित किए जाते हैं। जैसे बादल, वर्षा, सर्दी, गर्मी आधारित गीत- नई डाली पैया जामी, देवतों की डाली... यहाँ इस गीत में प्रकृति रक्षा की प्रेरणा है। बरसो-बरसो इंदर राजा बाबोसा रे देस... थोड़ा बरसो ओ म्हारे सासरे...। खेत जोतना, लावणी, कुरजाँ, सुवटिया जैसे प्राकृतिक समावेश के साथ संदेश निहित ऐसे लोक संगीत विरले ही प्राप्त हो जाते हैं।

जाति प्रजाति समुदाय व संप्रदायों की विशेषता का ज्ञान-ईश्वरीय भाव लोक में सदैव पूजनीय है। लोक ने अपनी छाप सुदूर अंचलों में छोड़ी है। इसीलिए कहा जाता है जहाँ इतिहास नहीं पहुँच पाया वहाँ लोक पहुँच गया। लोक गाथाओं में हमें जाति का ज्ञान हो जाता है। समुदाय संप्रदायों की जानकारी आस्था के आलौकिक माध्यम से हमें प्राप्त हो जाती है। पाबूजी, हड़बूजी, सांझी लीला इत्यादि अंचलों की पुरखों की सहेजी कलाओं के माध्यम से प्राप्त हो जाते हैं। ''लोक वेद सुसाहिब रीति'' आकृति, राजस्थान ललित कला अकादमी के संपादक कहते हैं कि लोक में व्याप्त दृष्टि ही हमारी सनातन संस्कृति है।

**रचनात्मक कौशल**

रचनात्मक कौशल लोक में निहित है। ये स्थूल दिखती है परन्तु सूक्ष्म भाव इसमें निहित है। घर में बनी रंगोली का सूक्ष्म भाव समृद्धि है।

**प्रतीकात्मकता का ज्ञान**

प्रतीकों के माध्यम से पूरी सृष्टि को गागर में सागर भरने की क्षमता लोक में है। और लोक कल्याण, लोक उत्थान लोक की सार्थकता का ज्ञान इस से विद्यार्थियों को प्राप्त होगा।

लोक कलाएँ जीवन का अंग हैं। और शिक्षा में इसकी महती भूमिका है। दस्तकारी, कुटीर का ज्ञान, रचनात्मक कौशल, वैचारिकता, तार्किकता, व्यावसायिक प्रेरणा, भौगोलिक ज्ञान, समुदाय व सम्प्रदायों का ज्ञान, सामाजिक चेतना एवं आत्मशीलता का भाव लोक में समाहित है। ❑

# लोक संस्कृति और उसका वर्गीकरण

**डॉ. अंजनी शर्मा**

विभागाध्यक्ष,
अंग्रेजी विभाग
देवघर महाविद्यालय,
देवघर (झारखंड)

लोक कला-संस्कृति, मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनाने के लिए उपयोगी है। पौराणिक काल से ये लोक कला जीवन को आनंदित व आन्दोलित करती रही है। भारतीय कला मनोरंजन के साथ-साथ बहुमुखी एवं बहुरूपी है। लोक कला इतिहास के साथ-साथ विज्ञान एवं जीवन की सारगर्भिता के दर्शन कराती है।

भारत की अनेक जनजातियों की पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही पारंपरिक कलाओं को लोक कला कहते हैं। भारतीय लोक कला मूलत: ग्राम अंचल में जनसामान्य और आदिवासी विशिष्ट समूहों द्वारा धारित एंव संरक्षित कला है। ग्राम्य परिवेश और लोक संस्कृति में व्याप्त रचनात्मक आचार व्यवहार कला तत्त्व के रूप में परिणत हो, यही लोक कलाओं को समृद्ध करती है।

सभ्यता सामाजिक बोध है तो संस्कृति उस बोध की चरितार्थता। लोक कला ने ही बताया कि पेड़ पर प्राणपोषक फल लगते हैं। पकी बाली से अनाज पैदा होता है। अनाज ने कैलेन्डर को विकसित कर दिया गोल चक्र चपटी भूमि पर दौड़ सकती है। चाक से बने बर्तन नवप्रस्तर युग के अपवाहक बने। पहिए ने विनिमय व्यापार चला दिया। गति अन्वेषित हुई। अन्न चक्र ने ऋतुओं को तय किया। भूमि की माप हुई तो क्षेत्रफल और ज्यामिति समझ में आई।

स्थानीय समुदाय की समग्र कलात्मक गतिविधियों एवं ग्रामीण रचनात्मकता को लोक कला कहा जाता है। इसमें संगीत नृत्य किवदंतियाँ परियों की कहानी, लोक कविता और लोक रीति रिवाजों के पूरे कलात्मक पक्ष शामिल हैं। ये सभी घटनाएँ एक दूसरे के साथ और गॉव के जीवन से जुड़ी हुई थी और एक लोक संस्कृति का निर्माण करती थी। लोक कला के साथ अभिव्यक्ति के रूप में भोली कला, आदिम कला, आदिम दृष्टि कला, बाहरी लिखावट कला, पारंपरिक कला, आदिवासी कला, भटकती कला एवं सिखाया कला आयी। लोक कला एक उपयोगितावादी और सौदर्य चरित्र के साथ-साथ की कला है जो एक निश्चित लोक परम्परा के भीतर उत्पन्न हुई है। लोक कला उच्च विकसित समाजों में कला को संदर्भित करती है। उच्च विकसित समाज में कला की मुख्य धारा का गठन करने वाले विशिष्ट या पेशेवर उत्पादन इससे अलग हैं। लोक कला ऐतिहासिक अध्ययन के एक अव्यावहारिक क्षेत्र के रूप में लोक कला को आंतरिक तौर पर कुछ अन्य प्रकार की कलाओं से अलग माना जाता है।

कला और लम्बे समय से लोक कला में स्थापित उत्पादों और रूपांकनों ने लोकप्रिय क्षेत्र के लिए एक प्राकृतिक स्रोत प्रदान किया है। अपने भौगोलिक एवं सांस्कृतिक कारणों से बड़े पैमाने पर अपने समय के महानगरीय कलात्मक

**कला और लम्बे समय से लोक कला में स्थापित उत्पादों और रूपांकनों ने लोकप्रिय क्षेत्र के लिए एक प्राकृतिक स्रोत प्रदान किया है। अपने भौगोलिक एवं सांस्कृतिक कारणों से बड़े पैमाने पर अपने समय के महानगरीय कलात्मक विकास से यह अलग है जो स्थानीय जरूरतों और स्वाद के लिए विशिष्ट शैलियों में वस्तुओं का उत्पाद करते हैं। इस तरह की कला उत्पादन परिष्कृत प्रभावों और अत्याधिक स्थानीय विकास से यह अलग है जो स्थानीय जरूरतों और स्वाद के लिए विशिष्ट शैलियों में वस्तुओं का उत्पाद करते हैं। इस तरह की कला उत्पादन परिष्कृत प्रभावों और अत्यधिक स्थानीय विकास दोनों के अधीन आदिम आवेगों और पारंपरिक प्रथाओं में एक अद्वितीय परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है।**

विकास से यह अलग है जो स्थानीय जरूरतों और स्वाद के लिए विशिष्ट शैलियों में वस्तुओं का उत्पाद करते हैं। इस तरह की कला उत्पादन परिष्कृत प्रभावों और अत्यधिक स्थानीय विकास दोनों के अधीन आदिम आवेगों और पारंपरिक प्रथाओं में एक अद्वितीय परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है।

उद्योग के रूप में वाणिज्य और परिवहन सभी लोगों के नवीनतम विचारों और उत्पादनों तक मुफ्त पहुँच प्रदान करना शुरु करते हैं पर एक सच्ची लोक कला इससे गायब हो जाती है। पुनरुद्धार बड़े पैमाने पर लोक कला के कलात्मक मूल्य को उपयोगितावादी स्वरूप से जोड़ देता है।

किसी वस्तु या तथ्य को लोक कला माना जाय इसके लिए उसका गुमनाम होना आवश्यक है अर्थात् कोई नहीं जानता कि यह किसने किया है लेकिन सभी को लगता है कि यह उस व्यक्ति या संस्कृति से संबंधित है। लोक कला आमतौर पर अधिक शान्त ढंग से काम करती है फिर भी क्लस्टरों के बीच काफी लोकप्रिय है।

### ओवरलैप करने वाली कला

मोली कला, आदिवासी कला आदिम कला लोकप्रिय कला, हम्प कला कामकाजी कला, ब्लू कॉलर कला आदि है।

### मधुबनी चित्रकला

मिथिलान्चल, बिहार, दरभंगा मधुबनी, नेपाल क्षेत्र इसके प्रमुख केन्द्र हैं जितवारपुर गाँव इस कला का मुख्य केन्द्र है। यह अपने प्रारंभिक रूप में विकसित हुई। बाद में धीरे-धीरे आधुनिक रूप में कपड़े, दीवारों एवं कागज पर उत्तरी औरतों द्वारा परंपरागत चित्रकला के रूप में उड़ान मिली। कुलदेवता चित्रण देवी-देवता की तस्वीर प्राकृतिक नजारे, सूर्य, चन्द्रमा, पेड़-पौधे तुलसी विवाह जैसे सामाजिक सरोकार को चित्रात्मक रूप प्रदान किया गया। मिली चित्र अरियन अल्पना आदि इसी के अन्य रूप हैं। पूजा स्थान कोहबर कक्ष, शादी घर, बाहरी दीवार, माँ दूर्गा, सीता राम, राधा कृष्ण, शिव पार्वती, गणेश आदि को मधुबनी चित्रकला में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। महासुन्दरी देवी मधुबनी कला की एक हस्ताक्षर कलाकार रहीं।

### पट्ट चित्र कला

पट्ट का अर्थ कपड़ा होता है। यह उड़ीसा की पारम्परिक कला है। इस कला में सुभद्रा, भगवान बलराम, दशावतार कृष्ण के जीवन से संबंधित जीवन की कला की झलक होती है।

### पिथौरा कला

यह कला गुजराती राठवाड एंव भील जनजाति की लोक कला पर आधारित है। इसमें अनुष्ठान की प्रधानता रहती है।

### कलमकारी चित्रकला

कलम से बनायी गयी कला में यह एक प्रमुख कला है। भारत की यह एक प्रमुख हस्तकला में से एक है। हाथ से सूती कपड़े पर रंगीन ब्लाक से छाप बनायी जाती है। इसका प्रयोग कागज पर भी होता है। यह भारत के आन्ध्र प्रदेश में कृष्णा जिले के मछलीपट्टनम एंव ईरान में प्रचलित है।

### कालीघाट चित्रकला

कलकत्ता कालीघाट मंदिर में मुख्यत: हिन्दू देवी देवता पर इस कला की कृति की जाती है।

### तंजौर कला

यह लोक कला कहानी सुनाने की एक विस्मृत कला है। भारत के हर प्रदेश में इस तरह के चित्रों का प्रयोग होता है। अभिव्यक्ति द्वारा भावों एवं विस्मृत होते कथानकों को जीवन्त करने का प्रयास किया जाता है।

### फर्श चित्रकला

यह भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा की लोक कला है। यह प्राय: त्यौहारों, व्रत, पूजा, उत्सव, विवाह के अवसर पर सूखे एवं प्राकृतिक रंगों से बनाया जाता है।

### कॉलम कला

यह एक आम कला है और इसका अधिकतर प्रयोग मंदिर प्रवेश द्वार, घरों एंव मंदिरों में किया जाता है। इसे प्रतिदिन बदला या बनाया भी जा सकता है। यह स्थापत्य कला के सौन्दर्य के लिए होती है।

### वर्ली चित्रकला

यह कला मुख्य रूप से महाराष्ट्र के जनजातीय प्रदेशों में होती है। इस तरह की कला जनजातीय घरों एवं पूजा घरों, फर्श व दीवारों पर बनाया जाता है।

### थंका कला

यह भगवान बुद्ध एवं उनके शिष्यों की जीवन कथा पर आधारित है। यह भारतीय नेपाली-तिब्बत संस्कृति पर आधारित है।

पाब्लो पिकासो अफ्रीकी आदिवासी मूर्तियों व मुखौटों से प्रेरित था जबकि नातालियाँ गोंचारोवा और अन्य लोग पारंपरिक रूसी लोकप्रिय प्रिंट से प्रभावित थे जिन्हें लबरेक कहा जाता है। ❑

# राष्ट्रीय शिक्षा नीति और कला शिक्षा

**डॉ. प्रतिमा मोहन कौशिक**
वरिष्ठ व्याख्याता
डाइट, टोंक (राज.)

कला और शिक्षा का परस्पर सम्बन्ध काफी घनिष्ठ है क्योंकि कला शिक्षण शिक्षा का एक माध्यम है। मनुष्य के सामाजिक प्राणी बनने में शिक्षा का गहरा योगदान है। मानवीय जीवन के तीन पक्ष हैं – ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक। कला इन तीनों को विकसित करने में सहायता करती है। यह किसी बालक की सांस्कृतिक जागरूकता एवं अभिव्यक्ति क्षमता को दृढ़ करती है।

कला शिक्षा का आशय कलाकार का निर्माण करना नहीं बल्कि व्यक्ति को कला के माध्यम से कैसे बेहतर सिखाया जाये, होता है। इसके लिए अलग से कला विषय हो, यह जरूरी नहीं; बल्कि बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक, सृजनात्मकता एवं मौलिकता के प्रति सजगता बनाये रखना जरूरी है। इसके तहत हर विषय शिक्षण में, समस्त क्रियाकलापों में कला बोध एवं कला माध्यमों का उपयोग प्रभावी शिक्षण हेतु किया जाना चाहिए। क्योंकि कला सृजित विचारों की अभिव्यक्ति है। यह व्यक्ति में व्यक्तिगत गुणों का ही नहीं सामाजिक गुणों का भी संस्कार पैदा करती है जो परिष्कृत होकर हमारी संस्कृति के वाहक बन जाते हैं। कला के प्रति सृजनात्मक दृष्टिकोण को विकसित करने की दृष्टि से सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम में सभी स्तरों पर कला शिक्षा का समावेश किया जाना चाहिए।

आनन्द मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है इस हेतु वह अपनी इंद्रियों द्वारा, मन द्वारा, वाह्य जगत की समस्त वस्तुओं में अपने लिए रसानुभूति तलाश कर ही लेता है। इसके लिए उसने जितने उपाय किये उसमें भाषा का विशेष स्थान है और भाषा के माध्यम से साहित्य सृजन अभिव्यक्ति का सशक्त उपक्रम है और साहित्य निश्चय ही आनंद देता है पर इसमें अभिव्यक्ति का क्षेत्र विभिन्न कलाओं के माध्यम से संभव हो पाता है। जैसे – चित्रकला, नृत्यकला, संगीत कला या अन्य दूसरी कलाएँ। इसे वह अपनी इंद्रियों से अनुभव करता है। सौन्दर्य बोध के अभाव में मनुष्य रसानुभूति से वंचित ही नहीं रहता अपितु मानसिक एवं शारीरिक रूप से भी स्वयं को कहीं न कहीं आहत पाता है। यदि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना है तो यह आनन्द द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और इस दृष्टि से कलात्मकता का विशेष महत्त्व है क्योंकि कला-सौंदर्य का पर्याय है और सौन्दर्य बोध के अभाव में रसात्मकता ठीक वैसी ही होगी जैसे अंधे व्यक्ति के लिए सुसज्जित पुष्प वृन्द!

श्री नंदलाल वसु जो कि बंगाल स्कूल के प्रवर्तक अवीन्द्र नाथ के शागिर्द और रवीन्द्रनाथ के आग्रह पर शान्तिनिकेतन में कलाशिक्षा के कला भवन की स्थापना के लिए जाने जाते हैं। के अनुसार – स्कूलों में कला शिक्षा का उद्देश्य कला के सम्बन्ध में एक पारखी दृष्टि विकसित करना और जीवन के हर पहलू में कलाबोध का अन्त:करण करना है चाहे वह टेबल पर अपना सामान जमाना हो, कपड़े सुखाने हेतु टांगना, उपयोगी सामान बनाना या रंग रोगन करना है। कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि कला साधना विलासिता का पर्याय है किंतु यह सीमित दृष्टिकोण मात्र है। क्योंकि अध्ययनों से पता चलता है कि बचपन से कला शिक्षा के सम्पर्क में रहने

वाले बच्चों में अधिक सामाजिक, सांस्कृतिक भावनात्मक एवं संज्ञानात्मक चेतना का विकास हुआ है, कला एक अवधारणा के रूप में कार्य करती है तथा व्यक्ति को जीवन भर निखारती है।

कला बालक की इंद्रियों को खुले अंत:करण वाले खेल से संलग्न करती हैं तथा संज्ञानात्मक, सामाजिक एवं भावनात्मक और बहुसंवेदी कौशल के विकास में योगदान देती है। जैसे-जैसे बच्चे प्राथमिक विद्यालय से आगे बढ़ते हैं कला मस्तिष्क के विकास, निपुणता, आत्म सम्मान एवं रचनात्मकता के अनेक अवसर प्रदान करती है तथा नकारात्मकता से मुकाबला करने के बारे में भी बुद्धि को विकसित करती है। यह एक बहुआयामी, बहुस्तरीय खेल आधारित शिक्षण प्रक्रिया की संवाहक होती है।

नई शिक्षा नीति 2020 में कहा गया है कि भारतीय पारम्परिक एवं लोक कलाओं को आगे बढ़ाने के लिए कलाशिक्षा को प्राथमिकता से लिया जाना चाहिए इसके लिए स्कूली शिक्षा में संगीत, नृत्य एवं रंगमंच आदि विषयों की पढ़ाई होनी चाहिए किंतु इससे आगे बढ़कर भी वर्तमान में बुनियादी शिक्षा एवं संख्या ज्ञान के लिए क्षेत्रीय भाषा के साथ-साथ लोक कलाओं, कहानी, गीत, कविता, चित्रकला एवं विभिन्न क्षेत्रीय कलाओं एवं खेलों का समावेश किया जाना भी कला शिक्षा को बढ़ावा देने में अहम भूमिका निभायेगा। स्कूली बच्चों में भाषा, कला एवं संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए पहल शिक्षा नीति के अध्याय 4 में की गई है जिसमें स्कूल के सभी स्तरों पर संगीतकला एवं शिल्पकला पर जोर दिया गया है। स्थानीय भाषा में शिक्षण, अधिक अनुभवात्मक भाषा लिखने का संचालन करना, स्थापित विशेषज्ञता के विभिन्न विषयों में दक्ष प्रशिक्षक के रूप में उत्कृष्ट स्थानीय कलाकारों, लेखकों, शिल्पकारों एवं मंच विशेषज्ञों की भर्ती, मानविकी, विज्ञान कला, शिल्प और खेल के दौरान पाठ्यक्रम

**कला शिक्षा बच्चों को सही अनुपात में सद्भावना और सौन्दर्य की भावना के साथ काम करने में मदद करती है। आज स्कूलों में बौद्धिक कार्यों के आधार पर, प्रोफेशनल ज्ञान और कुशलता के विकास पर जोर दिया जाता हैं। इसलिए यह बच्चों की शिक्षा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि उनमें कला और सौंदर्य के आनंद की क्षमता का भी विकास किया जाये। जिससे कला शिक्षा को अपने व्यवसाय में शामिल करने के महत्त्व को भी वह समझ पाये। अतः शिक्षार्थियों को अन्य विषयों के साथ कला को एकीकृत करना भी सिखाया जाये।**

में आदिवासी तथा अन्य स्थानीय ज्ञान सहित पारंम्परिक भारतीय ज्ञान का सटीक समावेश वर्तमान के प्रासांगिक हो, साथ ही पाठ्यक्रम अधिक लचीला हो। विशेष रूप से माध्यमिक विद्यालयों में, ताकि छात्रों को अपने स्वयं के रचनात्मक, कलात्मक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक पथ विकसित करने में आदर्श संतुलन मिल सके और वे रुचि अनुसार उसका चयन कर सकें।

आजकल विद्यालयों में कलात्मक दृष्टिकोण निर्धारित करने, सुगमता से सीखने तथा कला के महत्त्व को समझते हुए तथा सौन्दर्यीकरण के महत्त्व को समझते हुए न केवल पाठ्यपुस्तकें सुसज्जित एवं कलात्मक हैं बल्कि विद्यालय की भीति एवं कमरों का रंगरोगन करवाकर भी अपनी चित्रकारी एवं दस्तकारी को महत्त्व दिया जा रहा है। जिन विद्यालयों में गीत, संगीत, चित्रकला, खेलकूद द्वारा आनंददायी शिक्षण करवाया जा रहा है वहाँ बालक अन्य परम्परागत शिक्षण पद्धतियों से बेहतर सीख रहा है क्योंकि आनंददायी शिक्षण बालक के स्वाभाविक व्यक्तित्व के नजदीक होता है और वह सहजता से भयमुक्त वातावरण में सीखने को प्रवृत्त होता है। नवाचारी शिक्षण विधियों में इस बात पर विशेष जोर दिया जा रहा है तथा पाठ्यक्रम निर्माण में भी इसे गंभीरता दी जा रही है क्योंकि अधिगम को सरल एवं सार्थक बनाने के लिए कला को अन्य विषयों के साथ जोड़कर देखे जाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है। अन्य विषयों में गणित की संक्रियाएँ, अंग्रेजी, हिन्दी की कविताएँ, पर्यावरणीय संचेतना को विकसित करने हेतु अभिनय एवं सस्वर गाकर सिखाए जाने की ओर भी ध्यान किया जाना इस बात का प्रमाण है कि कला को पाठ्यक्रम में स्थान देने से बालक का न केवल सर्वांगीण विकास होगा बल्कि कहीं न कहीं उसमें व्यावसायिक कुशलता भी मूर्त रूप ले सकेगी। कला शिक्षा अधिगम की दृष्टि से छात्रों को रचनात्मकता प्रदान करती है जो उनकी समस्या सुधार कौशल को विकसित कर अपरम्परागत तरीके से विषयों की पहचान में मदद करती है। इतना ही नहीं यह बालक में भाषा कौशल, सामाजिक कौशल, निर्णय लेने की क्षमता का विकास एवं आविष्कारशीलता को भी बढ़ावा देती है। दृश्य कलाएँ बालक को परिप्रेक्ष्य और संतुलन के बारे में भी सिखाती है। रचनात्मक क्षमताओं के विकास हेतु कलात्मक बोध बच्चे व कला के बीच संबंध पर बहुत निर्भर करता है। कला शिक्षा बच्चों को सही अनुपात में सद्भावना और सौन्दर्य की भावना के साथ काम करने में मदद करती है। आज स्कूलों में बौद्धिक कार्यों के आधार पर, प्रोफेशनल ज्ञान और कुशलता के विकास पर जोर दिया जाता हैं। इसलिए यह बच्चों की शिक्षा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि उनमें कला और सौंदर्य के आनंद की क्षमता का भी विकास किया जाये। जिससे कला शिक्षा को अपने व्यवसाय में शामिल करने के महत्त्व को भी वह समझ पाये। अत: शिक्षार्थियों को अन्य विषयों के साथ कला को एकीकृत करना भी सिखाया जाये। ❑

# गोमय कला और लोक मान्यताएँ

**डॉ. प्रेषिका द्विवेदी**

सहायक आचार्य, चित्रकला
सेठ मथुरादास बिनानी
महाविद्यालय, नाथद्वारा
(राजस्थान)

लोक कलाएँ भारतीय ग्रामीण अंचल के रचनात्मक पहलू को प्रदर्शित करने का सशक्त माध्यम हैं। धार्मिक व लोक मान्यताओं से जुड़ी गोमय कला सदैव पवित्र मानी गई है। इस हेतु अनेक कथाओं, त्यौहार व रीति-रिवाजों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गाय के गोबर से निर्मित सांझी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान व गुजरात का प्रमुख उत्सव है। जिसमें गोविष्ठा की सहायता से कुंवारी कन्याएँ पितृपक्ष के 16 दिन चित्रांकन करती हैं। इसी तरह दीपावली त्यौहार के अन्नकूट महोत्सव पर कार्तिक शुक्ल पक्ष में श्री गोवर्धन जी की पूजा की जाती है और महिलाएँ द्वार पर गोबर से गोवर्धन पर्वत एवं श्री कृष्ण का सुंदर अंकन करती हैं। गोमय कला का यही सौंदर्य होलिका दहन में निर्मित उपले की माला में दिखाई देता है। इसी प्रकार गोबर से निर्मित ढाल भाई की रक्षा का प्रतीक माना गया है। दीपक, सूर्य, चंद्रमा, तलवार, बर्तन इत्यादि बनाने का प्रचलन भी लोक मान्यताओं में मिलता है। गाय के गोबर का कलात्मक प्रस्तुतीकरण लोक कला में सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करता है। वर्तमान में गोविष्ठ से निर्मित वस्तुएँ यथा आभूषण, राखी, झूमर, मूर्तियाँ, गमले एवं नेम प्लेट सर्वाधिक चलन में है। आज गोमय कला निश्चित रूप से रचनात्मकता का विकसित रूप प्रदर्शित कर रही है। समाज के सभी वर्गों में गोमय कला की उपयोगिता प्रशंसनीय परिणाम दे रही है।

भारतीय समाज विभिन्न जाति एवं जनजातीय संस्कृति का मिश्रित स्वरूप है। यहाँ के रीति रिवाज परंपराएँ एवं मान्यताएँ

इसे अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। समाज अपनी परंपरा, रहन-सहन, भाषा, कला इत्यादि से परिपूर्ण होता है, यही परिवेश हमारी संस्कृति का द्योतक है। लोक कलाएँ मूलत: ग्राम्य अंचलों द्वारा पोषित होती हैं। ग्राम्य परिवेश और संस्कृति में व्याप्त रचनात्मक व्यवहार, कला तत्त्व के रूप में परिणित हो, लोक कला को समृद्ध करते हैं। लोक कलाएँ उपयोगिता के भाव के साथ ही प्रतीकात्मक स्वरूप लिए होती हैं और इनसे संबंधित कथाओं में प्रतीक रूप की अहम भूमिका होती है। विशेषत: त्यौहार, मेले व अनुष्ठानों में मान्यताएँ व कलाएँ अंत: संबंधित होती है।

भारतीय सभ्यता में गाय को सदैव देवी (माता) स्वरूप माना गया है। गाय के पूजन से लेकर, प्राप्त गोमय (गोबर) को भी शुभ की संज्ञा दी गई है। गाय से प्राप्त दूध, गोमूत्र एवं गोबर का विभिन्न उत्पादों में उपयोग लिया जाता है। गाय में देवी-देवताओं का निवास है। पूजा, हवन अथवा अन्य धार्मिक कार्यों की पवित्रता बनाए रखने हेतु गाय के गोबर का विशेष महत्त्व है। गोमय/गोबर से बनाए जाने वाले विभिन्न प्रतीकात्मक स्वरूप 'लोक कला' का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। गोमय कला भारतीय जनमानस के कलात्मक एवं रचनात्मक आग्रह को वैश्विक स्तर पर भी परिपोषित कर रही है।

ब्रज लोक परंपरा में गोबर द्वारा चित्रित की जाने वाली सांझी ने आज अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक अलग पहचान स्थापित की है। सांझी उत्सव में पितृपक्ष के दौरान 16 दिनों तक कुंवारी कन्याओं द्वारा गोमय से भिन्न-भिन्न पारंपरिक प्रतीक चिन्ह बनाए जाते हैं। उत्तर प्रदेश में ब्रज तथा राजस्थान में नाथद्वारा मंदिर की सांझी परंपरा विश्व प्रसिद्ध है। गोबर सांझी के चित्रांकन में पेड़-पौधे, सूर्य चंद्र, पक्षी, स्वास्तिक, देवी-देवता, गणेश मुख, दीपक, गिरिराज धरण, त्रिशूल, जनेऊ, धनुष-बाण इत्यादि प्रतीक चिन्ह बनाए जाते हैं। गोबर द्वारा बनाए जाने वाले यह चित्र, फूल की पंखुड़ियों से सजाकर आकर्षक रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं।

''सांझी के मनोरथ की यह परम्परा कुंवारी कन्याओं से संबंधित है जिसमें विवाह से पूर्व वे पूरे उत्साह के साथ इस आयोजन में प्रतिवर्ष सहभागिता करती हैं। शादी होने के उपरांत विवाह के प्रथम वर्ष में ही सांझी का उद्यापन किया जाता है जिसके अंतर्गत सांझी का उद्यापन करने वाली स्त्री 16 घरों में जाकर सांझी न्योतती हैं। तदोपरांत अगले दिन नरवर कोट का पूजन करती है। इस पूजन के उपरांत स्त्री द्वारा 'मनसा पूजी' की सामग्री उसके ससुराल भेजी जाती है।'' सांझी लोक कला का यह मनोरम कार्य भारतीय संस्कारों में रचा बसा है जिसके अनेक स्वरूप व अनेक कथाएँ प्रचलन में हैं। माना जाता है सांझा देवी दुर्गा स्वरूपिणी है। पूजन के समय गोबर से सांझा देवी, उसकी बहन फूहड़ और खोड़ा काना बामण की आकृतियाँ बनाते हैं। साथ ही गीत गाकर ''सांझा माई जीम ले, ना धापी तो और ले, धाप गी तो छोड़ दे'' मीठे व्यंजनों का भोग लगाया जाता है। इस प्रकार गोमय से निर्मित सांझी कला में लोक कल्याण व खुशहाल जीवन की भावनाएँ निहित है।

**गोवर्धन पूजन**

सम्पूर्ण भारत में दीपोत्सव के अगले दिन कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा पर अन्नकूट महोत्सव मनाए जाने की परम्परा है। श्रीमती शकुंतला शर्मा से हुए साक्षात्कार के अनुसार, ''यह श्रीकृष्ण के गोवर्धन स्वरूप के पूजन का उत्सव है। आज के दिन लोग अपने घर के द्वार पर गोबर से श्रीकृष्ण के गोवर्धन रूप का निर्माण करते हैं और विधि विधान से पूजा करते हैं।''

मान्यता है कि बाल्यकाल में श्रीकृष्ण ने देवराज इंद्र के अभिमान को खत्म करने हेतु गोवर्धन पर्वत को अपनी उंगली पर उठाकर अतिवृष्टि से ग्रामीण वासियों की रक्षा की थी। कृष्ण की लीलाओं के मनमोहक रूप एवं कथाओं के फल स्वरूप यह धार्मिक मान्यता हमारे कलात्मक दृष्टिकोण को सुशोभित करती है। गोमय से मुख्य द्वार पर गोवर्धन पर्वत, ग्वाल बाल, पेड़ पौधे के प्रतीक स्वरूप का चित्रांकन कर सुख व समृद्धि की कामना की जाती है। अन्नकूट पर्व से संबंधित अन्य कथाओं में प्रकृति व पुरुष के संबंध का वर्णन तथा द्वार पर गोबर के प्रयोग से घर में सकारात्मक ऊर्जा के प्रवेश का वर्णन भी मिलता है।

फाल्गुन माह की पूर्णिमा पर होलिका दहन का उत्सव उत्तर भारत में हर्षोल्लास मनाया जाता है। होलिका उत्सव में गोमय से गोल आकृतिनुमा बड़कूले होलिका पूजन में प्रयोग लिए जाते हैं। फागुन मास के शुक्ल पक्ष में यह कार्य शुरू किया जाता है तथा एकादशी तक इसे पूर्ण कर लिया जाता है। श्रीमती विनोद द्विवेदी से हुए साक्षात्कार के अनुसार ''इस दिन गोबर से बनाई गई ढाल होलिका माता को भेंट की जाती है, जो अपने भाई की रक्षा का प्रतीक है। मान्यता है कि यह ढाल भाई पर वारकर होलिका में अर्पित की जाती है। इससे भाई निरोग, दीर्घायु व समृद्ध रहते हैं।''

गोबर की यह ढाल, छोटे-छोटे बड़कुलों के साथ एक माला में पिरोकर होलिका दहन से पूर्व होली पर पहनाई जाती है। इसी तरह मध्यप्रदेश में परंपरा है कि गोबर से बने यह बड़कूले होलिका माता के गहने व आभूषण हैं, जिससे होली का श्रृंगार होता है। गोबर के बड़कुले बनाते समय इससे खिलौने, बर्तन, दीपक, गोबर की ढाल, नारियल, सुपारी, चंद्रमा, सूरज, पान, तारे, चक्की, चूल्हा इत्यादि बनाकर भी होलिका दहन में अर्पित कर दिए जाते हैं। इसके अलावा गोमय से ही होली की आँख, आधी रोटी, होलिका माई, व तलवार बनाकर होलिका माता को भेंट की जाती है। मांडू में होली पर गोबर के बुलबुले बनाने की परंपरा प्रचलित है। अलग-अलग रीति रिवाज व लोक मान्यता अनुसार इन सभी प्रतीक चिन्हों को एक माला में पिरोकर पितृ देवता, शीतला माता, हनुमान जी को अर्पण किया जाता है। गोबर से बनाए बड़कुले, उपले व प्रतीक चिन्हों का दान कर परिवार में सुख संपत्ति की प्रार्थना की जाती है और यह परंपरा बुराई पर अच्छाई का प्रतीक भी मानी जाती है।

**मान्यता है कि बाल्यकाल में श्रीकृष्ण ने देवराज इंद्र के अभिमान को खत्म करने हेतु गोवर्धन पर्वत को अपनी उंगली पर उठाकर अतिवृष्टि से ग्रामीण वासियों की रक्षा करी थी। कृष्ण की लीलाओं के मनमोहक रूप एवं कथाओं के फल स्वरूप यह धार्मिक मान्यता हमारे कलात्मक दृष्टिकोण को सुशोभित करती है। गोमय से मुख्य द्वार पर गोवर्धन पर्वत, ग्वाल बाल, पेड़ पौधे के प्रतीक स्वरूप का चित्रांकन कर सुख व समृद्धि की कामना की जाती है।**

गोमय कला को माध्यम अनुसार धरातल पर गोबर लीप कर मांडने का आधार बनाया जाता है वही आज इससे कागज बनाने का चलन भी शुरू हो गया है। माध्यम से इतर बेल बूटे, मूर्तियाँ, आभूषण, झूमर आज स्वतंत्र रूप से इस कला से ही निर्मित किए जा रहे हैं। लोक कला में मौलिक व नैतिक शिक्षा के साथ ही कला शिक्षा की स्वत: ही परवरिश होती है और यह शिक्षा पाठ्यक्रम के रूप में शुरू की जाए तो विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास में प्रशंसनीय परिणाम प्राप्त होंगे। लोक मान्यताओं व कलाओं के अंतर् संबंधों में भारत एक समृद्ध देश है। यहाँ मान्यताएँ व रचनात्मक आग्रह दोनों समानांतर ही अपनी प्रगति पथ पर चलते हैं। अत: गोमय कला सरल व सहज अभिव्यक्ति के साथ ही कला क्षेत्र में देश को सशक्त भी बनाती है। ❑

# लोक संस्कृति और शिक्षा

**प्रो. आलोक कुमार चक्रवाल**

कुलपति, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)


संस्कृति को हम मानव जनित पर्यावरण के तौर पर देख सकते हैं। इसके दो प्रमुख घटक है प्रथम घटक भौतिक घटक है जिसमें खान-पान, रहन-सहन, पहनावा, वास्तुकला, दृश्यकला, इत्यादि सम्मिलित हैं। द्वितीय घटक अभौतिक घटक होते हैं, जैसे धर्म, दर्शन, साहित्य, लोक परंपराएँ, रीति-रिवाज, लोकगीत, भाषा, विज्ञान एवं तकनीक इत्यादि। प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है। यहाँ 'लोक संस्कृति' से हमारा अभिप्राय सामूहिक संस्कृति या साझा संस्कृति से है। लोकसंस्कृति एक क्षेत्र विशेष में रहने वाले मनुष्यों के हजारों वर्ष की निरंतर चली आ रही ऐतिहासिक विकास यात्रा की कहानी है, जो उनके दैनिक जीवन में परिलक्षित होती है ।

लोक संस्कृति जीवन की वह विधि है, जिसमें हम सोचते हैं और कार्य करते हैं। समाज के एक सदस्य होने के नाते उत्तराधिकार में बहुत सी सांस्कृतिक विशेषताएँ स्वत: प्रभावित करती हैं। मानव की सभी उपलब्धियाँ उसकी संस्कृति कही जा सकती हैं, जैसे लोककला, संगीत, साहित्य, वास्तुशास्त्र, शिल्पकला, धर्म-दर्शन, विज्ञान, रीति रिवाज, परंपराएँ, पर्व-उत्सव एवं जीने के तौर-तरीके इत्यादि। संस्कृति परंपराओं, विश्वासों, जीवनशैली, आध्यात्मिक एवं भौतिक पक्ष से निरंतर जुड़ी हुई है। संस्कृति हमें जीवन जीने की कला सिखाती हैं।

'मानव ही संस्कृति का निर्माता है और संस्कृति ही मानव को सामाजिक मानव बनाती हैं' लोक संस्कृति मानव जीवन के बौद्धिक और सामाजिक विकास से संबन्धित है। यह मनुष्य की शौंदर्यात्मक एवं नैतिक प्रतिमान तथा आध्यात्मिक भावनाओं को भी दर्शाती हैं। वस्तुत: चरित्र निर्माण करने वाली शक्ति के रूप में इसमें अवचेतन के प्रति प्रेरणा भी निहित होती है। लोक संस्कृति निर्विवाद रूप से सामाजिक शिक्षा एवं जीवन जीने के तरीके को निर्देशित करती है एवं व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए चेतना प्रदान करती हैं। संस्कृति के विकास की बात करें तो हड़प्पा सभ्यता से पूर्व पाषाण कालीन संस्कृतियाँ देखने को मिलती हैं। जिसमें प्रारंभिक अवस्था में हम देखते हैं कि मनुष्य पत्थर के उपकरण के प्रयोग से अपनी जरूरत को पूरा करता है और अपनी जरूरत के अनुरूप, उन उपकरणों को सुविधा युक्त बनाने का प्रयास किया उसके बाद मनुष्य ने धीरे-धीरे पशुपालन एवं उसके पश्चात कृषि करना सीखा। कृषि अर्थव्यवस्था से ग्रामीण व्यवस्था का विकास हुआ तथा व्यापार से नगरी सभ्यता का विकास हुआ। हड़प्पा कालीन संस्कृति की कुछ धार्मिक परंपराएँ आज भी प्रचलित हैं। जैसे मातृ देवी एवं पशुपतिनाथ की उपासना इत्यादि। वैदिक काल मे प्रचलित धर्म और दर्शन के साथ कालांतर में बौद्ध एवं जैन धर्म के दर्शन एवं पर्यावरणीय चेतना तथा अन्य धर्मों

की परंपराएँ आज भी प्रचलित है। संस्कृति मानव जीवन को एक नैतिक प्रतिमान एवं चेतना प्रदान करती है। संस्कृति एक लंबे उतार-चढ़ाव के परिणाम स्वरूप आगे बढ़ती है। संस्कृति व्यक्ति के सामाजिक एवं धार्मिक विकास की आधारशिला है। संस्कृति से सामाजिक व्यवस्था जैसे नातेदारी, उत्तराधिकार के नियम, विवाह, संस्कार, परंपराएँ, खान-पान, रहन-सहन एवं पहनावा इत्यादि का निर्धारण होता है । समाज का एक अभिन्न भाग संस्कृति है। समाज और संस्कृति दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । व्यक्ति संस्कृति से नैतिक प्रतिमान एवं आदर्श का अनुकरण कर अनुकूलन करता है।

लोक संस्कृति दैनिक जीवन में खानपान से संबन्धित दिशा निर्देश भी देती है। चूँकि खानपान का निर्धारण भौतिक घटक के साथ-साथ अभौतिक घटक का भी योगदान होता है जैसे भारत में प्रचलित जाति व्यवस्था में खानपान को लेकर कुछ जातियाँ अपने आप को नियंत्रित करती हैं, लेकिन क्षेत्र विशेष में खाद्यान्न उपलब्धता का भी प्रभाव रहता है। मानव के आपसी संबंधों एवं आचार व्यवहार की शिक्षा संस्कृति से मिलती है। प्रत्येक समाज में मानव के आपसी संबंध उनकी संस्कृति के अनुरूप देखे जा सकते हैं। समाज के अपने संस्कृति के दिशा निर्देश के अनुरूप सामाजिक संबंध को निर्धारित करती है। संस्कृति ही उत्तराधिकार के नियम को सामाजिक स्वीकृति प्रदान करती है। प्रत्येक संस्कृति में अलग-अलग उत्तराधिकार के नियम हो सकते हैं, जैसे दायभग और मिताक्षरा में देखे जा सकते हैं। उसी प्रकार जनजाति समुदाय में उत्तराधिकार, विवाह, संबन्धित नियम उनकी संस्कृतियों से निर्धारित होता है। संस्कार की बात करें तो संस्कार संस्कृति का ही हिस्सा है। हिंदू धर्म में देखा जाए तो सोलह संस्कार होते हैं।

**लोक संस्कृति एवं शिक्षा दोनों एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। लोक संस्कृति में सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक प्रतिमान निहित है। संस्कृति किसी भी समाज की संपूर्ण चेतना ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, साहित्य का संपूर्ण योग होता है, जो एक सतत प्रक्रिया का प्रतिफल है। संस्कृति मनुष्य को सामाजिकता प्रदान करने हेतु निरंतर प्रयासरत रहती है। मनुष्य भी संस्कृतियों के माध्यम से निरंतर कुछ न कुछ सीखता है। सही मायने में मनुष्य और उसकी लोकसंस्कृति दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तथा दोनों ही एक दूसरे को सभी प्रकार से प्रभावित करते हुए विकास करते रहते हैं। निस्संदेह सांस्कृतिक पतन को मानव का पतन कहा जा सकता है।**

लोक संस्कृति रहन-सहन एवं पहनावा संबन्धित दिशा निर्देश देती है। रहन-सहन एवं पहनावा मुख्य रूप से भौतिक घटक एवं अभौतिक घटक दोनों से प्रभावित होता है, किन्तु मुख्य रूप से पहनावा व्यक्ति के भौगोलिक क्षेत्र तथा जलवायु पर निर्भर करता है, इसके अतिरिक्त विशेष परिस्थिति में भी कुछ विशेष परिधान देखे जा सकते हैं। जैसे दु:ख में परिधान अलग होते हैं सुख के परिधान अलग होते हैं। बुजुर्गों के परिधान अलग होते हैं, बच्चों के परिधान अलग होते हैं, महिलाओं के परिधान अलग होते हैं। इन सबका बोध उनकी संस्कृति से होता है।

धार्मिक शिक्षा की बात करें तो मनु ने कहा है 'धारयी इति धर्म:' अर्थात् मनुष्य जो नैतिक प्रतिमान धारण करता है वही उसका धर्म कहलाता है। नैतिक प्रतिमान के अंतर्गत व्यक्ति के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से जुड़े सभी पक्ष सम्मिलित किए जाते हैं। सनातन धर्म की बात करें तो कण-कण में परमात्मा व्याप्त है। अर्थात् पशु, पक्षियों, पेड़ पौधों, जीव-जंतुओं, मानव, नदियों एवं पहाड़ों इत्यादि सभी में परमात्मा का वास होता है। सभी के प्रति स्नेह भाव रखने की बात की जाती है। सनातन धर्म में नैतिक प्रतिमान है कि सभी जीवों के प्रति समान सद्भाव रखना चाहिए। उदाहरण के तौर पर हम गाय को माता मानते हैं। देवताओं से पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, नदियों के साथ संबंध स्थापित किया गया है, जो कहीं न कहीं सृष्टि संरक्षण को दर्शाता है। बौद्ध एवं जैन धर्म में जीवों के प्रति दया भाव रखने की प्रेरणा, भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

पर्यावरणीय शिक्षा की बात करें तो सभी धर्मों में हम देखते हैं कि पर्यावरण संरक्षण को लेकर चिंताएँ व्यक्त की गयी है। हिंदू धर्म में देखें तो पंच तत्त्व के सिद्धांत एवं सूर्य पूजा, धरती को जननी मानना, पशु पक्षियों को लेकर देवताओं से जोड़ना, नदी कि तुलना माँ से करना इत्यादि शामिल हैं जिससे पर्यावरण का संरक्षण किया जा सके। इसी तरह इस्लाम में हम देखें तो जल को लेकर, पशु पक्षियों को लेकर चिंताएँ व्यक्त की गयी हैं।

लोक संस्कृति एवं शिक्षा दोनों एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। लोक संस्कृति में सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक प्रतिमान निहित है। संस्कृति किसी भी समाज की संपूर्ण चेतना ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, साहित्य का संपूर्ण योग होता है, जो एक सतत प्रक्रिया का प्रतिफल है। संस्कृति मनुष्य को सामाजिकता प्रदान करने हेतु निरंतर प्रयासरत रहती है। मनुष्य भी संस्कृतियों के माध्यम से निरंतर कुछ न कुछ सीखता है। सही मायने में मनुष्य और उसकी लोकसंस्कृति दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तथा दोनों ही एक दूसरे को सभी प्रकार से प्रभावित करते हुए विकास करते रहते हैं। निस्संदेह सांस्कृतिक पतन को मानव का पतन कहा जा सकता है। इस क्रम से सांस्कृतिक विकास को मानव विकास कहा जा सकता है। ❑

# शिक्षा चारदीवारी से मुक्त हो

**संस्कृति दूध, विद्या नवनीत और शिक्षा घी है। चरित्र-निर्माण शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। चित्र व मूर्तियाँ भी हमें गहराई से प्रभावित करती हैं। उत्सवों-त्योहारों से हम भाईचारा, प्राणी मात्र के प्रति प्रेम, नृत्य-संगीत से अनुशासन, खान-पान से स्वास्थ्य-रक्षा, पहनावे से शालीनता और अपने देश व जाति के प्रति निष्ठा, आध्यात्मिक चिंतन, सत्संग व भागवत कथा श्रवण से संसार की नश्वरता, विनम्रता, समर्पण व सदाचार जैसी उदात्त भावनाओं की शिक्षा स्वतः आहरण करते हैं। आज शिक्षा को शिक्षायतनों की चारदीवारी से मुक्त करके जीवन के धरातल पर ले जाने का समय उपस्थित है। गुरुकुल शिक्षा इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। विद्यार्थी गुरु के साथ जीवन के आवश्यक कर्म करते हुए ज्ञानार्जन करें।**

**डॉ. शंभु दयाल अग्रवाल**
पूर्व अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर हिन्दी एवं अनुवाद संकाय, ओड़िशा राज्य मुक्त विश्वविद्यालय, सम्बलपुर (ओड़िशा)

संस्कृति और शिक्षा के बीच क्षीर-नीर संबंध है। शिक्षा एक ओर जहाँ संस्कृति को परिपुष्ट करती है, वहीं संस्कृति शिक्षा का दिशा-निर्देश करती है। उत्तम शिक्षा के बिना संस्कृति की हानि होती है, वहीं संस्कृति-बोध के बिना शिक्षा बेमानी हो जाती है। शिक्षा के पथभ्रष्ट होने पर संस्कृति के क्षय के साथ ही समाज पतन की राह पर चल पड़ता है। संसार में उस जाति का सम्मान घटने लगता है; और एक दिन ऐसा आता है, जब वह समाज और उसकी संस्कृति विलुप्त होकर इतिहास बन जाती है। जब किसी समाज में कोई प्रभावशाली जननायक अपनी किन्हीं भिन्न मान्यताओं का प्रचार करने लगता है और लोग उसे स्वीकार करने लगते हैं, तब पुराने जीवन-मूल्य विस्थापित होकर नए मूल्यों की स्थापना होती है। तब शिक्षा की दिशा बदलने के साथ-साथ उस समाज की संस्कृति भी करवट लेती है; कई लोक-कलाएँ क्रमशः लुप्त होने लगती हैं और नये उत्सव-त्यौहार आदि वजूद में आने लगते हैं। इसलिए इस विषय पर कुछ भी कहने से पहले 'शिक्षा' और 'संस्कृति' को ठीक से समझ लेना चाहिए।

हमारे यहाँ दो शब्द काफी प्रचलित हैं- 'शिक्षा' और 'विद्या'। दोनों में सूक्ष्म अंतर है। विद्या को दूसरे शब्दों में हम कौशल-विकास कह सकते हैं, यानी वह सब कुछ जिससे व्यक्ति अपनी आजीविका चला सके, तथा व्यक्ति और समाज भौतिक विकास भी कर सके। अतः बढ़ई, दर्जी, बुनकर, लोहार, कुम्हार, मत्स्य-गो-पशुपालन, यांत्रिकि, स्थापत्य, चित्रकारी-नृत्य-संगीत-मूर्ति निर्माण आदि ललित कलाएँ, अभिनय व गद्य-पद्य-नाटक आदि विविध साहित्यक विधाएँ, चिकित्सा शास्त्र, ज्योतिषी-खगोल विज्ञान, धातु-विज्ञान, पाक-कला, अंक-गणना, व्यापार, कृषि, रसायन शास्त्र, भौतिक विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, खेल-कूद, योग-ध्यान, युद्ध इत्यादि जैसी तमाम मानवीय गतिविधियाँ विद्या कहलाती हैं। कौशल अथवा विद्या अमूर्त है, पर उसके उत्पाद मूर्त होते हैं। शिक्षा की अभिव्यक्ति भी भावात्मक है। शिक्षा को हम

ज्ञानेन्द्रियों से देख-छू नहीं सकते, सिर्फ अनुभव कर सकते हैं। शिक्षा का सीधा और अनन्य संबंध हमारे बुद्धि-विवेक और मानवीय संवेदना से है। लोक-परलोक, आत्मा-परमात्मा, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि का ज्ञान शिक्षा है; जबकि आत्मिक स्थिति में पहुँचकर योग-ध्यान के माध्यम से परमसत्ता से एकाकार होने की कला विद्या है। शिक्षा हमारे आचार-व्यवहार को संवारती है, जबकि विद्या हमें कुछ हासिल करने की क्षमता प्रदान करती है। शिक्षा विद्या को प्रभावित करते हुए भी उससे निर्लिप्त रहती है; अर्थात् विद्या से वह प्रभावित नहीं होती। शिक्षा विद्या का मार्गदर्शन व दिशा-निर्देश करती है; इसलिए विद्या को शिक्षा का ही एक उपविभाग माना जाता है; 'शिक्षा-व्यवस्था' में शिक्षा और तमाम विद्याएँ समाहित हो जाती हैं। समाज विशेष की संस्कृति की छाप उसकी शिक्षा-व्यवस्था पर स्पष्ट दिखाई देती है।

अब संस्कृति पर विचार करते हैं। हर जाति-जनजाति अथवा समाज की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है; यानी उनका आचार-व्यवहार, पहनावा, सामाजिक-आध्यात्मिक मान्यताएँ, तीज-त्यौहार, भाषा-साहित्य, नृत्य-संगीत, खान-पान आदि में उनकी अपनी अलग पहचान होती है। इस आधार पर संस्कृति के चार तत्त्व बनते हैं- धर्म, आध्यात्मिक दर्शन, भाषा-साहित्य और ललित यानी चारुकलाएँ। संस्कृति की अभिव्यक्ति तीन उपायों से होती है- चाल-चलन और व्यवहार में, कला-स्थापत्य में तथा साहित्य और भाषा-सौंदर्य में। यह सारे तत्त्व और अभिव्यक्ति के माध्यम परस्पर अनुपूरक, यानी निर्भरशील व संश्लिष्ट हैं। धर्म अथवा कर्तव्य का हमारे विवेक और बुद्धि से प्रत्यक्ष संबंध है। समाज की धर्म संबंधी मान्यताओं का स्पष्ट प्रभाव उसकी शिक्षा-व्यवस्था पर पड़ता है। धर्म, दर्शन और आध्यात्म हमारे आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज और नीति, साहित्य और चारूकला के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं।साहित्य हमारी बुद्धि, विवेक, चाल-चलन, सभ्यता आध्यात्मिक चेतना तथा चारूकला का परिचय देता है। चारूकला तो अपने आप में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम है, जो हमारे धर्म, आध्यात्मिक चिंतन, दर्शन व साहित्य का परिचायक है।

साहित्य क्रांति का नायक है। साहित्य में प्रयुक्त नवीन प्रतीक मिथक और अभिनव चिंतन जनमानस को संस्कारित करने के अलावा कला स्थापत्य पर भी गहरा प्रभाव डालते हैं। लोगों के मन में बसी आध्यात्मिक चेतना और ध्यान-धारणा को प्रभावशाली साहित्य के माध्यम से खारिज व बदला भी जा सकता है; लोगों में नई चेतना और आदर्श को स्थापित किया जा सकता है। अत: धर्म, आचार-व्यवहार,रीति-नीति, चारूकला, ज्ञान-विज्ञान, राष्ट्र और राजनीति आदि मानव समाज के हर कार्यकलाप को पूरी तरह नया मार्गदर्शन देने की क्षमता साहित्य में है। इसमें कोई संदेह नहीं कि साहित्य-सर्जक साहित्यकार प्रत्येक क्रांतिकारी परिवर्तन का नायक है; यह इतिहास सिद्ध है।

धार्मिक मान्यताएँ विद्या को प्रभावित करती हैं। जीवहत्या को पाप मानने वाले समाज में मछली-मांस आदि से संबन्धित व्यापार का रास्ता बंद हो जाता है; जैसे जैन समाज। इस्लाम में चित्रकला, अभिनय आदि वर्जित होने से उस समाज के लोग चित्रकला, मूर्तिकला, नाटक, नृत्य-संगीत आदि विद्याओं से वंचित हो गए; मनोरंजन व जीविकोपार्जन के इन साधनों को नहीं अपना सकते। इन मान्यताओं का सीधा असर उनकी शिक्षा-व्यवस्था पर पड़ना स्वाभाविक है। इससे पता चलता है, प्रत्येक समाज की शिक्षा-व्यवस्था अपनी संस्कृति के अनुरूप और अन्य सभ्यताओं से अलग होनी चाहिए। शिक्षा व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जिससे संस्कृति परिपुष्ट हो, लोगों में अपनी संस्कृति और राष्ट्र के प्रति मोह, सम्मान और समर्पण की भावना पैदा हो।

सभ्यता संस्कृति की देन है। पाश्चात्य जगत में सभ्यता को 'civilization' कहते हैं, जो किसी समाज में प्रचलित नगरों की बनावट व स्थापत्य-कला तक ही सीमित है। लेकिन भारतीय मान्यताओं के अनुसार 'सभ्यता' में लोगों का रहन-सहन, रीति-रिवाज, जीवन-मूल्य, साहित्य, ललित कलाएँ... यानी समूची संस्कृति की अभिव्यक्ति समाहित है। मूर्तिपूजा के कारण तरह तरह के मंदिर और मूर्तिकला की महान परंपरा अस्तित्व में आई। इसका असर साहित्य पर भी पड़ा। कथा-भजन-लेखन, गायन, उस पर आधारित नाट्यालेखन व मंचन, सत्संग-कथा-वाचन व भक्ति आधारित नृत्य-संगीत, मेला-महोत्सव के आयोजन से एक आनंदमय पवित्र परिवेश का निर्माण होता है। प्रचलित देवी-देवताओं के चरित्रों पर विपुल साहित्य का निर्माण और तत्संबंधी विद्याओं का विकास भी हुआ। निर्गुण निराकार ईश्वर पर भी दुनिया में प्रभूत साहित्य की सर्जना हुई, लेकिन सगुण-उपासना से जुड़े आनंद-उत्सव, कलाओं, कारीगरी-विद्या व तज्जनित आजीविका के साधनों से लोग वंचित हो गए। सिख और इस्लाम, दोनों ही निर्गुण साधना के पक्षधर हैं; सिखों ने कलाओं को प्राथमिकता दी, जबकि इस्लाम ने तमाम ललित कलाओं को निषिद्ध करके दुनिया की एक बड़ी आबादी को मनोरंजन के साधनों से वंचित कर दिया। इतना ही नहीं, इस्लाम के वजूद में आने से उस समाज के तमाम साहित्य और लोक-कलाओं का अस्तित्व ही मिट गया।

अब लोक-कलाओं पर विचार करते हैं, जो समाज की सामाजिक-आध्यात्मिक जीवन की मान्यताओं व समाज को गहराई से प्रभावित करने वाले साहित्य से स्वत:पैदा होती हैं। लोक-कलाओं में समाज की अपनी विशिष्ट गीत-नृत्य-संगीत की शैलियाँ समाहित होती हैं, जो लोगों का भरपूर मनोरंजन करने के साथ साथ सामाजिक-नैतिक शिक्षा की संवाहिका भी होती हैं। लोक-कलाओं की प्रस्तुति के दौरान लोग उसमें वर्णित किंवदन्ती व लोककथा को जीते और उसका आनंद उपभोग करते हैं। भारतीय लोक-कलाओं की विशेषता यह है कि

उसमें मानवीय करुणा, ईश्वरीय सत्ता और उनसे एकाकार हो जाने की कलाकार की व्याकुलता परिलक्षित होती है।

नृत्य-संगीत के क्षेत्र में वनवासी जनजातियों की अपनी अपनी शैलियाँ हैं। विवाह, कृषि, जन्मोत्सव, ऋतु परिवर्तन, मेला-महोत्सव या तीज-त्यौहारों में प्रस्तुत किए जाने वाले लोकगीत व नृत्यों में उस समाज के रोजमर्रा जीवन, रीति-रिवाज, आस्था-विश्वास आदि का प्रतिफलन देखने को मिलता है। कपोतनृत्य, पतंगनृत्य, कुम्भनृत्य, थालीनृत्य, सर्पनृत्य आदि जैसे लोकनृत्यों का अपना विशिष्ट संगीत भी है। हर जनजाति की अपनी नृत्य-शैलियाँ होती हैं; जैसे- झूमर,शैला, रीना के अलावा कर्मा और चैत्र, गोंड जाति के उत्सव-नृत्य हैं। हर प्रदेश की अपनी नृत्यशैलियाँ भी हैं, जैसे-राजस्थान के सिद्ध जाटों की कच्ची घोड़ी, गींदड़, और अग्निनृत्य; कमार जनजाति की टेरताली; गरसिया जनजाति की बलार, भीलों की तोली, गौरी और घूमर; मीणाओं का घेर, रैका, और झोरिया आदि। गुजरात की गरबा, पंजाब का भांगड़ा बहुत लोकप्रिय है। वैसे इन सभी राज्यों की कई नृत्यशैलियाँ और भी हैं। कर्नाटक का यक्षगान, तमिलनाडु का थेरुकुट्टू नुक्कड़ नाटक प्रसिद्ध है। असम के बीहू नृत्य में कृषिक्षेत्र की तमाम गतिविधियों की झलक के साथ गीत-संगीत में प्रकृति व ग्राम्य-संस्कृति जीवंत हो उठती है तो ओड़िशा के घुडुकि, गीत-गोविंद, दुआरी, पाला, दासकाठिआ, आदि में उत्कलीय संस्कृति का पुट स्पष्ट झलकता है।

भारतीयों का जीवन दर्शन है- ''आत्मनोमोक्षार्थं जगदहिताय च।'' इसलिए अजंता-एलोरा व कोणार्क जैसे कला-क्षेत्रों की नग्न-मूर्तियों व चित्रों में भी हमें ईश्वरीय परमसत्ता की अनुभूति होती है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से आजकल कुछ लोग इन तमाम कलाओं को उपयोगितावाद की नजर से आँकते हुए खारिज करने का प्रयास करते हैं। परंतु चरित्र निर्माण व सामाजिक शिक्षा के लिए ये कलाएँ कितनी उपयोगी हैं, एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। 'पाला' ओडिशा प्रदेश की एक विशिष्ट लोक-कला है। इसमें गुरु-शिष्य परंपरा चलती है। गुरु को 'गायक', शिष्य को 'पाळिआ' तथा वाद्य-यंत्रों के साथ कला प्रस्तुति में सहयोग करने वाले 8-10 सहयोगियों को 'बायक' कहते हैं। पाला इस राज्य में इतना लोकप्रिय है कि उत्कल के गजपति राजा ने पाला गायकों को अपना मुकुट पहनाकर कहा था, ''मैं तो राज्य का राजा हूँ, पर आप जनता के दिलों के राजा हैं।'' कला प्रस्तुति की शुरुआत में सत्यनारायण भगवान की आराधना के बाद गजपति महाराज का मुकुट पहने गुरु किसी लोकप्रसिद्ध कथा पर लिखे किसी काव्य की प्रस्तुति शुरू करते हैं। हल्के अभिनय के साथ काव्य को स्वर-लय-ताल सहित गाते हुए जमकर व्याख्या भी करते हैं। बीच बीच में मार्मिक प्रसंगों में रुककर किसी अन्य कवि की रचना में किसी अन्य कथा में किए गए अनुरूप प्रसंग का भी गायन करके उदाहरण देते चलते हैं। शिष्य भी बीच-बीच में गुरु को टोककर अन्य कवियों के अनुरूप प्रसंगों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करता है। इस तरह काव्यालोचना करते हुए सारी रात बीत जाने पर भी एक छोटी-सी कहानी पूरी नहीं हो पाती। दर्शकों में पढ़े-लिखे, अनपढ़ और निरक्षर, बच्चे-बूढ़े और महिलाएँ भी होती हैं; उनके मन में गुरु की गायकी और कथा वर्षों तक प्रतिध्वनित होती रहती है। लोककलाएँ शिक्षा के क्षेत्र में कितनी कारगर भूमिका निभाती हैं, इस छोटे से उदाहरण से उसका अनुमान लगाया जा सकता है। लोक-नाटक शैली में रचित भारतेन्दु के नाटक और अत्याधुनिक नुक्कड़ नाटकों की प्रभावोत्पादकता से शिक्षा क्षेत्र में लोककलाओं की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।

आधुनिक युग के स्कूलों में दृश्य-श्रव्य उपकरणों के सहारे विद्यार्थियों को प्रभावशाली ढंग से पढ़ाने की परिपाटी चल पड़ी है। लेकिन ऐसे उपकरणों की अनुपस्थिति में शिक्षायतनों के बाहर न जाने किस प्राचीन काल से लोककलाएँ सम्पूर्ण समाज के प्रति यही जिम्मेदारी निभाती आयी हैं। इसलिए यह निर्विवाद सत्य है कि शिक्षा के क्षेत्र में लोककलाएँ भी साहित्य और धर्म की तरह कारगर भूमिका निभा सकती है। हम स्कूल जाते हैं औपचारिक शिक्षा के लिए। लेकिन अनौपचारिक रूप से अनजाने ही हम अविरत शिक्षा ग्रहण करते रहते हैं। अपने परिवार, परिवेश, लोकाचार, गीत-संगीत, कला-स्थापत्य, लोकगीत, लोककथा व लोक कलाओं से। प्रभु श्रीराम के दरबारी महर्षि सत्यकाम जाबालि को अपने गुरु गौतम ऋषि से कुछ नहीं मिला; उन्होंने आश्रम के पशु चराते हुए सिर्फ प्रकृति से ही शिक्षा ग्रहण की। उनका कोई जाति-गोत्र न था, क्योंकि उनकी माता एक गणिका थी। औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में जीवन के संघर्ष में लगे निरक्षर लोग वंचित हो जाते हैं। 20-25 साल सिर्फ कुर्सी-मेज़ का इस्तेमाल करते हुए जीवन के वास्तविक अनुभवों से वंचित युवाओं में निकम्मापन आने लगता है।

संस्कृति दूध, विद्या नवनीत और शिक्षा घी है। चरित्र-निर्माण शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। चित्र व मूर्तियाँ भी हमें गहराई से प्रभावित करती हैं। उत्सवों-त्योहारों से हम भाईचारा, प्राणी मात्र के प्रति प्रेम, नृत्य-संगीत से अनुशासन, खान-पान से स्वास्थ्य-रक्षा, पहनावे से शालीनता और अपने देश व जाति के प्रति निष्ठा, आध्यात्मिक चिंतन, सत्संग व भागवत कथा श्रवण से संसार की नश्वरता, विनम्रता, समर्पण व सदाचार जैसी उदात्त भावनाओं की शिक्षा स्वत: ग्रहण करते हैं। आज शिक्षा को शिक्षायतनों की चारदीवारी से मुक्त करके जीवन के धरातल पर ले जाने का समय उपस्थित है। गुरुकुल शिक्षा इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। विद्यार्थी गुरु के साथ जीवन के आवश्यक कर्म करते हुए ज्ञानार्जन करें। शिक्षा और संस्कृति परस्पर अनुपूरक हैं; शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृति के सभी विभावों का समुचित उपयोग होना चाहिए। ❑

# ‘Harijatra’ of the Matua Sect in Bengal :

## At the Crossroads of Tradition and Transformation

**Mainak Putatunda**
Assistant Professor of Political Science
Hooghly Mohsin College, West Bengal

Matuas are a group of Bengali speaking people belonging mostly to the Namashudra caste who adhere to the teachings of their nineteenth century guru Shri Harichand Thakur and his son Shri Guruchand Thakur. The Namashudras were originally inhabitants of the marshy lands of Eastern Bengal, now part of Bangladesh’s territory. Namashudras living in these areas were considered as impure, untouchables by the upper caste Hindus. These people, however, were often visited by the wandering Vaishnava singers and ascetics who followed Shri Chaitanya Deva, the great fifteenth century Hindu reformer of Bengal who spread the message of accepting and honoring anyone who speaks the Lord Krishna’s name with Bhakti or devotion, irrespective of his caste or creed.However, the Vaishnava leaders in Bengal had strayed far from Chaitanya’s message of eschewingcasteism and Namashudras, burdened with extreme poverty and illiteracy, could not shake off their untouchable status despite accepting Vaishnavism. At this historical juncture Harichand Thakur emerged as a savior for the Namashudras, who led a movement to end the misinterpretation of the Vedas by Brahmins to subjugate them. Harichnad Thakur was particularly belligerent about the question of untouchability and proclaimed that the Namashudras should reject all Brahminical dictates regarding pure and profane. He exhorted his followers to only focus on the holy name of ‘Hari’ and to chant it incessantly. His followers, thereafter, were known as ‘haribola’ or those who always chant the name of Hari. A section of Hindus, apprehensive and dismissive of the movement, mockingly called them ‘Matua’, i.e. a group of crazy or imbalanced people who behave as if intoxicated by chanting the ‘Hari’

**Harijatra is a relatively recent development, the first such Jatra being written by RamjibanBala in 1920. Eminent Matua researcher Dr.BiratBairagya has identified three historical stages of Harijatra. The earliest stage, which was quite similar in style to the traditional Puranic Jatra (with the exception that Harichand Thakur and his principal follower's lives were the basis of these Jatras and not Puranic stories) lasted from 1920 to the Indian independence. The second stage of Harijatra is an interesting one since at this stage, many writers who were refugees from East Pakistan, began to contribute to the art. In keeping with the changes occurring in Bengal's mainstream Jatra around this period, Harijatra's content and style started adopting a more politically conscious tone, and messages against the caste system were ubiquitous and quite transparently put.The final stage or contemporary stage of Harijatra is distinguished by a dual inclusion of left political ideology as well that of a Dalit Bahujan political identity.**

name. Eventually, the Namashudra followers of Harichand Thakur came to use that epithet as a badge of honor for they were truly mad in divine love. Harichand's son and able successor Guruchand Thakur not only continued the movement but also achieved marvelous progress in the field of education and commerce among the Matuas.

**Jatra:**

Jatra is aform of folk art which is popular in the states of West Bengal, Orissa and Assam. Jatra has many similarities with 'Nautanki', another form of performing art popular in states like Uttar Pradesh and Maharashtra. Such art forms do borrow from the ancient tradition of Indian Sanskrit dramas or 'Natya' but there aretwo crucial difference between the two. Firstly, the Sanskrit dramas were performed principally by priests or hereditary performers and championed by the Kings and other nobility. Secondly, such dramas were primarily intended to perform a religious or ritual function and educating or entertaining common people was a byproduct. An art form like Jatra, however, is championed by the common folk and its principal aim is to entertain. Bengali Jatra dates back to the fifteenth century and Chaitanya Deva and his followers are considered to be the earliest proponents of the Jatra. Early Bengali Jatras took its inspiration from the medieval lyrical poetry or 'Mangal Kavya' which were popular renditions of Puranic stories in verse. Therefore, the early Jatras also focussed on puranic stories and relied on songs and dialogues in the verse form to get their message across to their intended rural audience. Jatra helped in the creation of a popular moral foundation for the uneducated rural folk of Bengal. Jatra usually took place in a round 'stage' where the audience sat at the same height as the performers and all around the stage. The Jatra artists, therefore, had to portray their emotions powerfullyby playing well recognised mythical characters such as Krishna, Ram and Ravana in order for them to connect with the entire audience. The form and content of Jatra began to change after the introduction of professional theatre in Kolkata from 1873. Although Bengali professional theatre was much influenced by Jatra in the

beginning and adopted many of its elements including the emphasis on songs for story-telling, it later became much popular through the adoption of western theatrical norms which emphasised the use of prose based, highly emotional and grandiose dialogue. Such techniques lessened the reliance on songs and dance and eventually Bengali Jatra moved further away from the Ram-Jatra, Krishna-Jatra etc. to focus on contemporary social drama and even political messages. During the heydays of IPTA, theatre and Jatra both came to be used as tools for political propaganda. Utpal Dutta, the famous actor and thespian, considered himself to be a propagandist for the Communist Party. Thus, he wrote Jatras such as 'SanyasirTarobari' (The Sword of the Saint) which were unabashedly propagandist in. Today, Jatra is still popular in some parts of Bengal especially in the tea and coal producing areas but it has lost much of its earlier glamour due to the invasion of other mediums of entertainment even in the remotest villages.

**Harijatra:**

Guruchnad Thakur, the second leader of the Matua sect, was enthusiastic about Jatra as a form of preaching. Therefore, the Matuas developed their own form of Jatra, which was named Harijatra, after their founder Harichand Thakur. Harijatra is a relatively recent development, the first such Jatra being written by RamjibanBala in 1920. Eminent Matua researcher Dr.

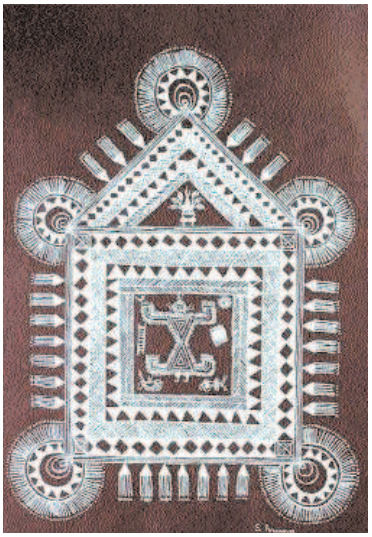

Birat Bairagya has identified three historical stages of Harijatra. The earliest stage, which was quite similar in style to the traditional Puranic Jatra (with the exception that Harichand Thakur and his principal follower's lives were the basis of these Jatras and not Puranic stories) lasted from 1920 to the Indian independence. The second stage of Harijatra is an interesting one since at this stage, many writers who were refugees from East Pakistan, began to contribute to the art. In keeping with the changes occurring in Bengal's mainstreamJatra around this period, Harijatra's content and style started adopting a more politically conscious tone, and messages against the caste system were ubiquitous and quite transparently put. Sanatan Biswas and Dr.Nanigopal Bala are some of the prominent writers of Harijatra at this stage which can be identified from the independence to the late nineteen eighties. The final stage or contemporary stage of Harijatra is distinguished by a dual inclusion of left political ideology as well that of a Dalit Bahujan political identity. The very use of the words 'Dalit' or 'revolution' was not observed in the earlier periods. Although Harijatra never became completely propagandist in nature, but the emphasis has clearly shifted from portraying the 'lila' or divine lives of the Matua founders and saints. An important author of this period, Santosh Kumar Barui, was also a prominent member of the CPI (M), therefore, it is no wonder that his writings would reflect his ideology. Field observations have revealed a further tendency to give a message regarding secularism and religious harmony through Harijatra, with new 'Pala' or Jatra scripts being written about the Muslim followers of the Matua sect such as Tinkari Miyan. Children are sometimes dressed in the traditional attire of different religions and act in Harijatra to lend credence to the message of harmony.

Despite these changes, Harijatra has not incorporated modern props, lighting or sound arrangements now being used by mainstream Jatra to compete with its rivals, the professional and group theatres of Bengal. It has also eschewed the trend to bring celebrated film stars on board to gain popularity. Therefore, in its form, Harjatra has remained closer to its popular bucolic roots, while its more popular cousin Jatra has strayed from that path. ❑

# Folklore, Oral History, Sampradayas and Education

**Dr. T.S. Girishkumar**
Professor of
Philosophy (Rtd.)
MSU Baroda
(Gujarat)

Bharat is an amazing land; it is amazing in every respect: it keeps one wondering in all conceivable aspects of existence not just of both the living and nonliving, but also through the Bharatiya epistemology of coexistence with the very cosmos itself. We know that Bharat had been invaded by many from the outside world, and in most cases, they came looking for the wealth of Bharat and little did they ever understood that they could never even understand the real wealth – treasure – from Bharat, which is Bharatiya knowledge tradition or the Vedopanishadic knowledge tradition, a knowledge tradition that covers all aspects of all kinds of knowledge in all forms.

**The Vedopanishadic knowledge tradition**

Today, the Vedopanishadic knowledge tradition is available to us as a single unit of knowledge system with its manyfold expressions. We are also aware of their methods of obtaining knowledge as Yoga, through Yogaj, which may be put in English as the transsensory perceptive way of obtaining knowledge. But then, such knowledge did not and cannot spring forth just like that, there must have been great spadework done behind, great amount of apparently simple and single knowledge must have been traversed through and so on.

Should one really trace back to the earliest origins towards such knowledge tradition, one would indeed, stumble upon many simple things which would even appear crude, incomplete, rudimentary etc., but with great potentials as one goes on. Now, what are these rudimentary, simple but potentially potent knowledge titbits? They are the folklore, oral history, and our many sampradyas of old and new alike.

**Folklores, oral history, legends and sampradayas**

Folklores and oral histories are common to all great civilisations. They are the basic units of knowing, rather the very starting towards any knowing which is to become a knowledge tradition. Folklores, oral histories etc. shall indeed appear simple or even trivial, but to understand them one has to take special efforts. They must be scrupulously dealt with to

capture their implications.

Bharat has yet another powerful instrument to keep things live and get them keep going into generations coming too. That is the legends created by our ancestors about historical and other important happenings. These legends may appear as stories, but should one make efforts to unpack them, they shall at once reveal many phenomena from yester years. Such legends remain, and shall keep remaining for all generations among us.

In short, folklores, legends and oral history etc. ought to be treated as the fundamentals of our knowledge tradition. Bharat has many texts which discusses knowledge of all kinds, and most of them are still available to us in printed form. They got written down by scholars of the old from Shruti and Smriti tradition in time, and in spite of the destruction of many of our texts like the burning of Nalanda University library by Bhaktiyar Khilji, most of them remained intact in many other places.

We can plan our curricula in such a manner that students could be taught about our ancient wisdom relatively easily as they are mostly available to us, and slowly we are doing it also.

**Teaching folklores etc.**

For any Nation, unity shall be the real strength. The unity must have some criterion or criteria of unification, which should not just be political. Political unification shall simply be forceful and artificial which shall not last long. The erstwhile USSR is a classic case of such unity. Lenin united many small nations in the former USSR, with the coercion of a synthetic communist force, and that unity made them one of the strongest nations of the world. We really do not know how comfortable the people in USSR used to be, but their nation made great progress economically, industrially and scientifically. But the moment the artificial forces of communism ended; former USSR also did disintegrate. The simple reason to this is, that, there were no volition in their unity, thy were simply politically compelled to be together, and at first instance, they fell apart.

**To sum up, education provided need to be evaluated undoubtedly, the evaluation has to be objective enough for anyone to make sense of it, though there are serious inherent difficulties with normal evaluations as mentioned earlier. We can work towards improving upon evaluation methods, and we have to remain flexible. At the same time, instead of improvising evaluation methods we keep copying others by going with grading system and create much obscurities. This has to be seriously addressed and corrected where necessary and where possible.**

Nations are united through linguistic affinity, which is a common phenomenon. People who speak the same language naturally shall wish to be together, and most nations are like that. We have Germany, France, Italy, England etc., though England extents verities of English to maintain a simple separation for Ireland, Scotland and England. There could also be geographical criterion of unity, where people of same region can remain united.

Some think that they shall remain unified in the name of religion, which is actually unrealistic. By religion we should mean the Semitic ones, because in Bharat we do not have religions as the terms stands for, we have Dharmas. Dharma is indeed, and

forcefully, not religion. When some think and feel that they can be united through religion, they fail to comprehend that the religion that they perceive itself is actually not united, they quarrel upon many and petty differences. We see multiple sects within them and we see each sect claiming to be most real, closest to their book, and most authentic. These religions have a theological difficulty of claiming custodianship, authenticity and purity and at the same time proclaiming all others as unholy, worthless and even, to be destroyed. Such people can never be united into one nation, they all are bound to disintegrate in time. Pakistan is a classic case to this. They have additional anachronism apart from sectarianism, they also find differences with the languages people speak. Such situation is bound to end up in misery and anarchism with all kinds of religious authorities guiding people astray. Generally, such religions are strengthened through a method of fear of punishments and promises of rewards to make people obey the custodians of religion, and, obviously, this shall not be lasting long.

The unity of Bharat is unlike all other unity in the entire world. The unity of Bharat is the result of a long intellectual process through time and is essentially based on a complete and comprehensive knowledge tradition. Let us try to discuss it very briefly. The method of obtaining knowledge in Bharat was Yoga, and Yogaj, which was obtaining knowledge directly without employing sense organs. Our texts, our architecture, our temples are examples to this. Of course, only a select few could do this, but that was more than sufficient, other scholars could easily work upon and extend that knowledge into all kinds of new directions. We called such people Rishikas and Rishis, who had experienced all kinds of knowledge. In another direction, such experiences were codified into Suktas of the Vedas, from where all other things began. We call that the Vedopanishadic knowledge tradition. As an external manifestation to this knowledge tradition, Bharatiya Sanskriti evolved in time, which indeed became a comprehensive Sanskriti. A transcendental longing from this Sanskriti evolved into the Hindu Dharma, which is also the Sanatana Dharma.

Bharatiya unity is the unity from Bharatiya Sanskriti, which is common to all Bharatiyas, no matter what one's faith system may be. Here, the Hindu Dharma has definite role to play, the Hindu Dharma preserves and protects this Sanskriti and transmits it from generations to generations. So long as there is Bharatiya Sanskriti, so long as there is Hindu Dharma transmitting it from generations to generations, the Unity of Bharat shall be formidable. But let us remember, that, the whole thing began with folklores, oral histories and legends, those could be deciphered and developed subsequently by the concerned scholars.

**Teaching folklores, oral history and legends**

This makes it rather mandatory that our generations should be aware of the fundamental and root pulses of Bharatiya knowledge tradition from folklore like phenomenon most directly. Folklores shall keep evolving, and in the outburst of modernity, people should not ignore them or sideline them, our children should also know the beginning of our knowledge tradition and learn to respect them. Therefore, including them in the curricula with adequate explanations becomes important and should be made mandatory. ❑

# मूल्य शिक्षा का आधार प्रभावी प्रार्थना सभा : कुछ नए प्रयोग

**संदीप जोशी**

व्याख्याता, रेवत,
जिला जालोर, (राज.)

विद्यालय में होने वाली प्रार्थना विद्यालय में संस्कार देने का सबसे प्रभावी कार्यक्रम है। विश्व के सभी देशों में, सभी संस्कृतियों में, सभी परंपराओं में प्रार्थना अनादि काल से चलती आई है। विश्व के सभी भागों के निवासी किसी न किसी रूप में कार्य की शुरुआत से पूर्व मन ही मन, मौन रहकर, सस्वर अथवा गाकर ईश्वर की प्रार्थना करते हैं। भारतीय संस्कृति में भी प्रार्थना का अहम स्थान है। सुख एवं दुख दोनों ही परिस्थितियों में प्रार्थना मनुष्य को शक्ति प्रदान करती है, आत्मबल को बढ़ाती है, सकारात्मक ऊर्जा का संचार करती है।

बच्चे भी जब विद्या अध्ययन के लिए विद्यालय आते हैं तो पठन-पाठन प्रारम्भ करने से पूर्व वे प्रार्थना सभा में ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। इससे शिक्षण के लिए आवश्यक वातावरण निर्माण भी होता है एकाग्रता का संस्कार भी बनता है।

पारिवारिक चर्चाओं और पारिवारिक वातावरण से बाहर निकलकर बालक शिक्षा प्राप्ति के लिए मानसिक रूप से अपने आपको तैयार करता है। प्रार्थना सभा वह स्थल होता है जहाँ संबंधित विद्यालय के शैक्षिक, सामाजिक एवं मानसिक व आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा, चिंतन, मनन होता है। प्रार्थना स्थल एक प्रकार से विद्यालय का दर्पण है। 1947 से लेकर अब तक की सभी शिक्षा नीतियाँ, सभी शिक्षा आयोग जिस चरित्र निर्माण और मूल्य आधारित शिक्षा की लगातार बात कहते हैं उसे प्रदान करने का सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रार्थना सभा है। इसे आधुनिकता का प्रभाव माने अथवा विद्यालय के आंतरिक तनाव और कामकाज की अधिकता माने; वर्तमान में कभी-कभी प्रार्थना सभा का आयोजन गौण होता नजर आता है। ऐसा लगता है जैसे शिक्षक, छात्र व विद्यालय प्रशासन केवल औपचारिकताएँ पूरी करने के लिए सवेरे एक स्थल पर इकट्ठे होकर राष्ट्र गान, राष्ट्रगीत, प्रतिज्ञा तथा प्रार्थना का गायन करते हैं। प्रार्थना कार्यक्रम जितना महत्त्वपूर्ण है उसका आयोजन भी उसी उत्साह से होना चाहिए। अनेक विद्वानों एवं शिक्षा मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि एक तरफ प्रार्थना सभा और दूसरी तरफ दिन भर की सारी शैक्षणिक गतिविधियाँ..... तब भी प्रार्थना सभा ज़्यादा शिक्षाप्रद है, ज़्यादा उपयोगी और संस्कारक्षम है। हममें से अधिकांश शिक्षक साथी इसको कितनी गंभीरता से लेते हैं, यह एक विचारणीय पक्ष है, आत्मावलोकन का भी विषय है। अनेक विद्यालयों में प्रभावी प्रार्थना कार्यक्रम को लेकर अच्छा प्रयास होता है लेकिन कई बार विद्यालयों की प्रार्थना सभा का एक सामान्य दृश्य यह भी है कि प्रार्थना प्रभारी के अलावा अन्य स्टाफ साथी सामान्यतया छोटे-छोटे समूह में बातचीत करते हुए,

कुछ अख़बार पढ़ते हुए, कुछ डायरी भरते हुए अथवा किसी एक तरफ एक दो मित्र चुपचाप खड़े आपसी बातचीत में व्यस्त दिखाई देते हैं। आशा है मोबाइल उपयोग तो कम हुआ ही है।

पर, ज़रा एक विचार करें- हम शिक्षक भी छात्रों के साथ प्रार्थना कर लें तो.... थोड़ा-सा अकल्पनीय लगता है। कुछ लोगों को ढोंग या नाटक भी लग सकता है... पर.... थोडा-सा मनन करें तो प्रार्थना सभा मे यह सहभाग हमारे लिए व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से लाभदायक ही रहेगा। बच्चों पर तो ज़बरदस्त सकारात्मक प्रभाव होगा ही। बच्चे माता पिता और गुरुजनों के आचरण से भी अनेक बातें सीखते हैं।

विद्यार्थी भी शिक्षा के साधक हैं और हम भी शिक्षा के साधक हैं। ऐसे में हम शिक्षक प्रार्थनातीत कैसे हो सकते हैं? शिक्षकों के लिए तो प्रार्थना करना ज़्यादा उपयोगी और करणीय कार्य है। मेरा मानना है कि शिक्षक को भी प्रार्थना में सहभागी होना चाहिए। सस्वर बोलें या मौन रहें पर प्रार्थना के समय आँखें बंद करके एक स्थान पर बैठना चाहिए। यह बहुत लाभदायक है। यह सब मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ। प्रार्थना सभा में प्रार्थना के अलावा होने वाले अन्य कार्यक्रमों में चाहे वह बैठकर सहभागी हो अथवा वहाँ अपने स्थान से खड़े हो जाएँ। पर प्रार्थना में सक्रिय सहभागी होना चाहिए।

सामान्यतया हमारे यहाँ पर प्रार्थना के बोल होते हैं - हमको मन की शक्ति देना मन विजय करें.... सुबह सवेरे लेकर तेरा नाम प्रभु..... हे शारदे माँ हे शारदे माँ अज्ञानता से हमें तार दे माँ...., सच्चा वीर बना दे माँ, हे हंसवाहिनी ज्ञानदायिनी, अम्ब विमल मति दे...., असतो माँ सद्गमय..... इतनी शक्ति हमें देना दाता, मन का विश्वास कमजोर हो ना.... इन सब प्रार्थनाओं में ऐसी कौन सी बात है जो

**प्रार्थना सभा वह स्थल होता है जहाँ संबंधित विद्यालय के शैक्षिक, सामाजिक एवं मानसिक व आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा, चिंतन, मनन होता है। प्रार्थना स्थल एक प्रकार से विद्यालय का दर्पण है। 1947 से लेकर अब तक की सभी शिक्षा नीतियाँ, सभी शिक्षा आयोग जिस चरित्र निर्माण और मूल्य आधारित शिक्षा की लगातार बात कहते हैं उसे प्रदान करने का सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रार्थना सभा है। इसे आधुनिकता का प्रभाव माने अथवा विद्यालय के आंतरिक तनाव और कामकाज की अधिकता माने; वर्तमान में कभी-कभी प्रार्थना सभा का आयोजन गौण होता नजर आता है।**

केवल विद्यार्थियों को ही चाहिए और हम शिक्षकों को नहीं चाहिए। विचार करेंगे तो ध्यान में आएगा कि आज की इस अत्यंत तनावपूर्ण जिंदगी में हमको भी मन की शक्ति चाहिए, हमको भी मन को विजय करने की आवश्यकता है, हमको भी अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाली शक्ति की जरूरत है।

शिक्षक बनने के बाद पहले दिन से ही प्रार्थना सभा करना मेरी रुचि का विषय रहा है। विद्यालय में उपस्थित है तो विद्यालय की प्रार्थना सभा कभी नही छोड़ी। हालांकि शिक्षक बनने के बाद पिछले कई वर्षों तक तो मैंने भी कभी स्कूल में बच्चों के साथ बैठकर, आँखें बंद करके, हाथ जोड़कर कभी प्रार्थना नहीं की थी। लेकिन एक बार गोदन विद्यालय में कार्यरत था, उस समय एक बार प्रार्थना सभा में मस्तिष्क में यह विचार आया। मौसम भी सुहावना था, शीतल मंद पवन चल रही थी। प्रार्थना स्थल पर अग्रेसर (प्रार्थना बोलने वाले) बच्चों के लिए एक चबूतरे जैसा स्टेज बना हुआ है। वहीं पर उनके पास बैठ कर कई दिन तक बच्चों के साथ, उन्हीं की तरह प्रार्थना करने का यह प्रयोग किया। वास्तव में यह बहुत अच्छा अनुभव रहा। दिन भर के लिए पर्याप्त ऊर्जा मिल जाती है। गोदन में यह प्रयोग बाद में लगभग नियमित हो गया। फिर स्थान परिवर्तन होने से रेवत विद्यालय आना हो गया। यहाँ प्रारंभ में कोई व्यवस्थित स्टेज नहीं था। विद्यालय परिसर छोटा होने के कारण स्टेज बनाने के लिए स्थान भी नहीं था। वर्षाजल संग्रहण का एक गोल टाँका (भूमिगत टैंक) था। संस्था प्रधान छगनपुरी जी से आग्रह करके टाँके की गोलाई को बाहर से कुछ दीवार जैसा करके चौकोर मंच का स्वरूप दिया। प्रार्थना स्थल थोड़ा व्यवस्थित लगने लगा। यहाँ भी बच्चों के साथ प्रार्थना करने का यह प्रयोग प्रारंभ किया है। अच्छा लगता है एक दो और भी स्टाफ साथियों का प्रार्थना करने का मन बन रहा है। आप भी करके देखें, बच्चों के साथ मंच पर ही अथवा विभिन्न कक्षाओं की पंक्तियों में सबसे पीछे अथवा कुर्सी पर बैठ कर.... जैसे भी जँचे, प्रार्थना ज़रूर करें।

शिक्षक का प्रार्थना करना ...
शिक्षक के
बच्चों के
विद्यालय के
परिवार के
और शिक्षा के लिए शुभ और लाभप्रद ही है।

प्रार्थना सभा के सकारात्मक उद्देश्य को समझने पर हम पाएँगे कि प्रार्थना सभा विद्यालय की शिक्षण अधिगम प्रणाली के आरंभ होने से पूर्व होने वाली एक औपचारिक सभा मात्र नहीं है बल्कि उस दिन के विद्यालय की सभी गतिविधियाँ सही ढंग से चलें तथा विद्यालय में शिक्षा का उचित माहौल तैयार हो, इसके लिए प्रार्थना का आयोजन करवाया जाता है। प्रभावी प्रार्थना सभा नव प्रवेशी बालकों में अच्छे चरित्र के गुण विकसित करने में

मदद करती है। यह वह समय होता है जब पूरा विद्यालय परिवार एकत्रित होता है, एक नज़र में निहारा जा सकता है। छात्र व शिक्षक, सभी उपस्थित होते हैं। प्रार्थना आयोजक के निर्देश पर समस्त क्रियाएँ संपन्न करने तथा अनुशासन में रहने के कारण बालमन में विभिन्न गुण अनायास ही विकसित हो जाते हैं। ऐसे में यदि आप उनके साथ बैठे हैं तो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष बहुत लाभ होने वाले हैं। केवल प्रार्थना अवधि तक ही बैठना है। प्रतिज्ञा, समाचार वाचन जैसी अन्य गतिविधियों में भले स्थान छोड़ दें।

टीवी पर एक विज्ञापन आता है- पहले इस्तेमाल करें, फिर विश्वास करें.... यह भी वैसा ही प्रयोग है, करके देखिए, सुकून मिलेगा।

**प्रार्थना सभा नवाचार - एक छोटा सा प्रयास**

जब किसी काम में मन से लगते हैं तो उस कार्य से संबंधित नए विचार, रचनात्मक विचार स्वत: आने लगते हैं। काम कोई भी हो उसमें नवीनता लाने पर काम में उत्साह बढ़ता है, आनंद आता है। पिछले दिनों एक प्रयोग किया। राजस्थान में पिछले दिनों बोर्ड की परीक्षाएँ चल रही थी अत: कक्षा 8,10,12 इन तीन कक्षाओं के बच्चे विद्यालय नहीं आ रहे थे। तीनों कक्षा मिलाकर लगभग 160 छात्र संख्या कम हो गई। प्रार्थना सभा भी कुछ खाली खाली लगने लगी। ऐसे में प्रार्थना सभा में छात्रों के बैठने की स्थिति में कुछ नए प्रयोग किए। विद्यार्थियों को सीधी पंक्ति में बिठाने की बजाय गणित की विभिन्न ज्यामितीय आकृतियों के आधार पर, गणितीय संकेतों के आधार पर, अपनी सांस्कृतिक परंपरा के कुछ चिन्हों के आधार पर, भूगोल की रचनाओं के आधार पर प्रार्थना स्थल पर बैठक व्यवस्था में बिठाया। जैसे वर्ग आयत त्रिभुज जोड़ बाकी गुणा, भाग, स्वास्तिक संरचना, सूर्य किरण संरचना, संकेंद्रीय वृत, आकाशगंगा इत्यादि। इन विभिन्न आकृतियों में विद्यार्थियों को बिठाने पर जो दृश्य बना वह मनमोहक और आकर्षक था।

जैसा कि हम जानते है, अनेक विद्वान भी ऐसा मानते हैं कि विद्यालय में आठों कालांश में होने वाली पढ़ाई एक तरफ और विद्यालय की प्रार्थना सभा एक एक तरफ तो भी दोनों पलड़े बराबर ही होंगे, विद्यालय की प्रात:काल की प्रार्थना का इतना महत्त्व है। प्रार्थना सभा के प्रति विद्यार्थियों में रुचि और उत्साह बना रहे इसके लिए ऐसे कुछ नए प्रयोग कभी-कभी किए जा सकते हैं। लगातार कई दिन तक विभिन्न सरंचनाओं में बैठकर प्रार्थना करने में बच्चों को बहुत आनंद आया। प्रार्थना कार्यक्रम में उनका सक्रिय सहभाग बढ़ा। विलम्ब से विद्यालय आने वाले छात्रों की संख्या में कमी आई।

सामान्य दिनों में जब सारी कक्षाएँ उपस्थित होती हैं तो छात्र संख्या अधिक होने के कारण छोटे मैदान में यह प्रयोग करना संभव नहीं हो पाता किंतु बोर्ड परीक्षाओं के दौरान छात्र संख्या कम थी तो विद्यालय के मैदान को भरने में यह प्रयोग बहुत सहायक सिद्ध हुआ। विद्यालय का मैदान तो भरा भरा ही अच्छा लगता है ना। बच्चों को इतना आनंद आया कि कई बार तो छात्रों ने स्वयं सुझाया कि अगले दिन किस सरंचना में बैठना है।

एक दिन कुछ ऊंचाई से प्रार्थना सभा के इस दृश्य के फोटो लिए। दृश्य अत्यंत मनोरम, मनमोहक था। दो तीन बार अलग अलग सरंचनाओं की फोटो लिए। सुंदर, आकर्षक दृश्य।

बाद में फोटो लेने बंद कर दिए। क्योंकि मूल उद्देश्य फोटो नहीं था। एक दिन विद्यालय की प्रार्थना सभा की नई सरंचना वाली कुछ फोटो सोशल मीडिया पर शेयर कर मित्रों को इस प्रयोग की जानकारी दी। सभी ने यह बहुत अच्छा लगा, सभी ने इसे सराहा। दो दिन में तो विभिन्न अन्य विद्यालयों के फोटो आने शुरू हो गए। इस प्रयोग को बहुत प्रतिसाद मिला। यह एक ऐसा प्रयोग रहा जो स्वत: एक अभियान बन गया.... एक बीज जो पल्लवित हुआ है, शिक्षक साथियों का सहयोग मिलेगा तो वह वृक्ष भी बन जाएगा। 5-6 दिन में 25 से अधिक विद्यालय के समाचार मिल गए कि उन्होंने अपने यहाँ भी यह प्रयोग किया है। अच्छे प्रयोग करने के प्रति स्वीकार्यता बढ़ रही है यह बहुत अच्छी स्थिति है। सप्ताह में एक बार या महीने में दो तीन बार प्रार्थना सभा में ऐसे कुछ विशेष प्रयोग किये जा सकते हैं। सामान्यत: नियमित रूप से सीधी पंक्ति बनाकर प्रार्थना करवाना ही उचित रहेगा।

कभी-कभी होने से उत्सुकता, उत्साह और रोचकता बनी रहेगी। बस्ता मुक्त शनिवार की एक गतिविधि के रूप में भी शनिवार की प्रार्थना सभा में यह विविधता पूर्ण प्रयोग कर सकते हैं। प्रार्थना सभा में करने जैसे और भी अनेक प्रयोग कर सकते हैं जैसे हिंदी, संस्कृत, अंग्रेजी भाषाओं में क्रमश: प्रतिज्ञा बुलवाना, विभिन्न भाषाओं में अच्छे गीत सीखकर, उन्हें मासिक गीत के रूप में प्रार्थना में अभ्यास करवाना इत्यादि। ऐसे और भी अनेक प्रकार के नए-नए प्रयोग प्रार्थना सभा में किया जाना अपेक्षित है ताकि हमारी प्रार्थना सभा आनंददायी, रोचक, ज्ञानवर्धक और संस्कारक्षम बने। हर बार यह याद रखना अति आवश्यक है कि हमारा अंतिम लक्ष्य बालक की अंतर्निहित शक्तियों का विकास करना है, बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है। प्राचीन भारत में भी शिक्षा का यही लक्ष्य था, स्वतंत्रता आंदोलन के समय अनेक राष्ट्रीय विद्यालय संचालित करने वाले शिक्षाविदों का भी यही लक्ष्य था और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का भी यही लक्ष्य है क्योंकि यही शिक्षा का शाश्वत लक्ष्य है। ❑